अंक २४



संस्कृत-पाठ-माला ।

(संस्कृत-भाषाका अध्ययन करनेका सुगम उपाय)

भाग चौबीसवाँ ।

—o—

लेखक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,

स्वाध्याय-मंडल, किल्ला-पारडी, (जि. सूरत

—o—

तृतीय बार

—o—

संवत् २००७, शक १८७२, सन १९५०

मूल्य ८ आने ।

कूट मंत्र।

वेदमें कूट मंत्र होते हैं। इन कूट मंत्रोंका अर्थ बडा गहन होता है। इस लिये इस अंतिम विभागमें उन कूटमंत्रोंका परिचय कराना है। यदि पाठक इस भागका अध्ययन बहुत मननपूर्वक करेंगे तो उनको वेदकी इस कूटमंत्र विद्याके साथ अच्छा परिचय हो जायगा। आशा है कि इस दृष्टिसे अध्ययन करके पाठक अधिक लाभ प्राप्त करेंगे।

स्वाध्याय-मण्डल,
किल्ला पारडी (जि. सूरत)

लेखक
श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

मुद्रक और प्रकाशक-व० श्री० सातवळेकर, बी. ए.,
भारत-मुद्रणालय, किल्ला पारडी (जि० सूरत)

ॐ

संस्कृत-पाठ-माला ।

भाग चौबीसवाँ ।

पाठ १

वेदमें कूटमंत्र बहुत हैं। उनका अर्थ खोलनेकी रीति बडी गूढ है। इस गूढताका पूर्ण विचार यद्यपि यहां थोडेसे स्थानमें नहीं हो सकता, तथापि उस गूढताकी कुछ कल्पना होनेके लिये एक मंत्र यहां लेकर उसको खोलकर बताते हैं। इससे इस बातकी कुछ कल्पना पाठकोंको हो सकती है—

चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ॥
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आविवेश ॥
(ऋ. ४।५८।३ यजु. १७।९१)

अब इस मंत्रके विविध अर्थ देखिये—

(१) गोपथ ब्राह्मण— जिसके चार वेद ये चार सींग हैं, तीन सवन ये तीन पांव हैं, ब्रह्मौदन और प्रवर्ग्य ये दो सिर हैं, सात छंद ये सात हाथ हैं, मंत्र, कल्प और ब्राह्मण इन तीन स्थानोंमें जो बंधा है, ऐसा अत्यंत बलवान महान् देव, अर्थात् "यज्ञ" मनुष्योंमें प्रविष्ट होवे।

(२) निरुक्तमें यास्काचार्य— जिसके चार वेद चार सींग हैं, तीन सवन तीन पांव हैं, प्रायणीय और उदयनीय ये दो सिर हैं, सप्त छंद सात

हाथ हैं, मंत्र ब्राह्मण कल्पमें तीन स्थानोंमें जो बंधा है वह महान यज्ञदेव मनुष्योंमें आवे।

(३) पतंजलि महामुनि— (व्याकरण महाभाष्यमें) जिसके चार सींग नाम, क्रियापद, उपसर्ग और निपात हैं, भूत, भविष्य और वर्तमान ये जिसके तीन पांव हैं, नित्य और कार्य शब्द ये जिसके दो सिर हैं, सात विभक्ति ये जिसके सात हाथ हैं, छाती, कंठ और सिरमें जो स्पर्श करता है, वह महान शब्दरूपी देव मनुष्योंमें प्रविष्ट होवे।

(४) ऋग्वेदमें सायणाचार्य— (सूर्यपर अर्थ)- जिसके चार दिशा ये चार सींग हैं, प्रातःकाल, मध्यदिन और सायंकाल ये तीन पांव हैं, दिन और रात्री ये दो सिर हैं, सप्त किरण अथवा सप्त ऋतु ये सात हाथ हैं, भूमि, अंतरिक्ष और द्युलोक इन तीन स्थानोंमें जो बंधा है, यह वृष्टि करनेवाला महान सूर्यदेव मनुष्योंमें नियमन रूपसे प्रवेश करे।

(५) तैत्तिरीय आरण्यकमें सायणाचार्य— प्रणवके अकार, उकार, मकार और अर्धमात्रा ये चार सींग हैं, अध्यात्म और आधिदैवत आदि पक्षोंमें विश्व, तैजस और प्राज्ञ अथवा विराट्, हिरण्यगर्भ और अव्याकृत ये तीन पांव हैं, चित् और अचित् ये दो शक्तियां सिर हैं, भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यं ये सात व्याहृतियां सात हाथ हैं, विश्व तैजस प्राज्ञ आदि तीन स्थानोंमें अकारादि तीन रूपोंद्वारा जो बंधा है, वह वृषभ अर्थात् बलवान शब्दरूपी प्रणवसे वाच्य महान देव परमेश्वर मनुष्योंमें प्रविष्ट हो।

(६) यजुर्वेदमें स्वा० दयानंद सरस्वती- [illegible] और पतंजलिके दोनों अर्थ स्वीकारते हैं।)

(७) ऋग्वेदमें स्वा० दयानंद सरस्वती—चार वेद जिसके [illegible] सींग हैं, कर्म उपासना और ज्ञान जिस धर्मके तीन पांव हैं, अभ्युदय और निःश्रेयस ये दो जिसके सिर हैं, सात इंद्रिय जिसके सात

हाथ हैं, श्रद्धा, पुरुषार्थ और योगाभ्यास इन तीनमें जो संबंध रखता है वह सुखकी वृष्टि करनेवाला धर्मरूपी महान देव मनुष्योंमें आ जावे।

(८) सायणाचार्य ऋग्वेदमें-कहते हैं कि इस मंत्रके पांच अर्थ होते हैं, (१) अग्नि, (२) सूर्य, (३) आप्, (४) गौ और (५) घृत; इन पांच उद्देशोंसे इसके पांच अर्थ संभवनीय हैं। सूर्यपरक अर्थ स्वयं करके अन्य अर्थ इसी प्रकार समझना चाहिये ऐसी सूचना दी है। अर्थात् सायणमतानुसार इस मंत्रके उक्त देवताओंके उद्देश्यसे पांच अर्थ होते हैं।

एक ही मंत्रके इस प्रकार भिन्न अर्थ प्राचीन तथा अर्वाचीन भाष्यकारोंने दिये हैं। ऊपर संक्षेपसे अर्थ दिये हैं जो पाठक विस्तारपूर्वक देखना चाहें वे उक्त स्थानोंमें देख सकते हैं। उक्त अर्थोंमें निःसंदेह भिन्नता है। किसी समय साधारण पाठक चक्करमें आ जांयगे और कहेंगे कि हम किसका अर्थ मानें और किसका न मानें !!!

क्या ये अर्थ परस्परविरोधी हैं ? क्या महामुनि पतंजलि और पूजनीय यास्काचार्य तथा अन्य आचार्य वेदके अर्थके विषयमें संदेहमें थे ? क्या इस प्रकारके मनमाने अर्थ संभवनीय हैं ? क्या एक ही मंत्रके अनेक अर्थ संभवनीय हैं ? इस प्रकारके सैंकडों प्रश्न इस समय सन्मुख आ जाते हैं, और साधारण पाठकोंका मन घबरा जाता है। यदि उक्त अर्थ एक नहीं है, तो उनमें विरोध अवश्य है, यही साधारण जनोंका मत होता है। परंतु यह शास्त्रकी दृष्टि नहीं है। भिन्न अर्थ होना विरोधका चिन्ह नहीं है। एक ही मंत्रके अनंत अर्थ हो सकते हैं परंतु यह कोई आवश्यक नहीं कि भिन्न अर्थ होनेसे उनमें विरोध ही समझा जावे।

विरोध किसको कहते हैं ? अर्थकी भिन्नताको विरोध नहीं कहा करते; क्योंकि वैदिक पदों, वाक्यों और मंत्रोंके अर्थोंकी भिन्नता उसकी

रचनासे ही सिद्ध है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक (Individual, Social and cosmic) अर्थात् वैयक्तिक, राष्ट्रीय और जागतिक दृष्टियोंसे कई मंत्रोंके कमसेकम तीन अर्थ होना, वैदिक रचनाके अनुकूल ही है। इस विधानकी स्पष्टता करनेके लिये कई पदोंके अर्थ नीचे दिये जाते हैं—

वैदिक पद	आध्यात्मिक भाव	आधिभौतिक भाव	आधिदैविक भाव
इंद्र	जीवात्मा	राजा, नरेंद्र	परमात्मा, विद्युत्
देव	इंद्रिय	विद्वान, शूर, व्यापारी और कारीगर	पृथिवी, आप, तेज सूर्य आदि
अग्नि	वाचा	ज्ञानी उपदेशक	अग्नि, तेज
आप्	वीर्य	शांत आत्मा, संन्यासी	जल
वृत्र	बुरे भाव और रोगबीज	आवरक शत्रु	मेघ आदि प्रकाशको रोकने-वाले पदार्थ।
उषा	बोध	जागृति	उषःकाल
मित्र	मित्रता	एकता, संघभाव	सूर्य आदि

सब शब्दोंके सब भाव देनेके लिये यहां स्थान नहीं है। परंतु उक्त पदोंके तीन स्थानके तीन भाव ऊपर बताये हैं। जिससे पाठक जान सकते हैं, कि एक एक देवताके मंत्र तीनों स्थानोंमें कमसे कम तीन भाव बतानेके लिये समर्थ हो सकते हैं। यह बात और है कि कई मंत्र केवल एक ही अर्थ बतानेवाले होंगे और कई मंत्र अनेक अर्थ बतानेवाले हो सकते हैं। इसीलिये हरएक मंत्रका तीन प्रकारका भाव अवश्य ही है ऐसा हम नहीं कहते, परंतु वेदकी रचनाके अनुसार हम इतना कह सकते हैं कि कई मंत्रोंके उक्त हेतुके कारण अनेक अर्थ होना संभव है। उदाहरणके लिये निम्न मंत्र देखिए—

" इंद्र ज्येष्ठा मरुद्गणाः ॥ " (ऋ० १।२३।८)

(१) आध्यात्मिक— जिनमें जीवात्मा मुख्य है ऐसे प्राण ।

(२) आधिभौतिक— जिनमें राजा मुख्य है ऐसे सैनिकोंके समूह ।

(३) आधिदैविक— जिनमें विद्युत् मुख्य है ऐसे झंझावात ।

" मरुतो मृळयंतु नः ॥ " (ऋ० १।२३।१२)

(१) प्राण हम सबको सुखी करें । पंचप्राणोंसे सुख होवे ।

(२) सैनिक हम सबको सुख देवें । रक्षकोंसे जनताका सुख बढे ।

(३) वायु हम सबको सुखी करे । वायुसे सबका हित होवे ।

इस प्रकार कई मंत्रोंके तीन तीन अर्थ होना वैदिक रीतिके अनुकूल ही है । प्रायः हरएक देवतावाचक शब्द और हरएक देवताके विरोधी शत्रुओं के वाचक शब्द इस प्रकार तीन तीन भाव बताते हैं । अर्थात् जैसे "इंद्र" शब्दके तीन भाव हैं, उसी प्रकार " वृत्र " के भी तीन भाव हैं । इंद्र वृत्रोंका आपसमें विरोध सनातन है । क्योंकि इंद्र प्रकाशको फैलाना चाहता है और वृत्र प्रकाशके विकासको रोकना चाहता है । इसलिये इनका यह युद्ध सनातन है । " प्रकाश " का भाव भी उक्त तीन स्थानोंमें भिन्न है । यदि इस वैदिक रीतिको पाठक ठीक प्रकार जानेंगे, तो अर्थकी अनेकता मानते और अनुभव करते हुए भी उन भिन्न अर्थोंमें " विरोध " नहीं मान सकते । क्योंकि ग्रंथकी शैली ही वैसी है । जबतक प्रकाश और अंधकारके समान उनमें मूल सिद्धांतोंका विरोध न होगा, तबतक अनेक अर्थ [illegible] भी उनका परस्पर विरोध नहीं माना जा सकता । सब आचार्योंकी यही शास्त्रदृष्टि इस समयतक स्थिर रही है ।

पाठ २

मतिश्च मे सुमतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।

(वा. य. १८।११)

(मे) मेरी मति और मेरी (सुमतिः) उत्तम मति यज्ञसे (कल्पतां) सामर्थ्यशाली होवे । सत्कर्मद्वारा अपनी मति और बुद्धिका संवर्धन करना चाहिये । यज्ञसे मति और सुमति अधिक शक्तिशाली होती है । यह उपदेश इस मंत्रसे प्राप्त होता है । यज्ञका अर्थ अत्यंत व्यापक है, परंतु उसका भाव " प्रशस्ततम कर्म " है । सबसे श्रेष्ठ सर्वोपयोगी जो कर्म होता है, वही प्रशस्ततम कर्म कहलाता है । जिस कर्मसे श्रेष्ठोंका सन्मान, सबके साथ मित्रता और परोपकार होता है, वह प्रशस्ततम कर्म है । इस प्रकारके कर्मोंमें अपने आपको समर्पित करनेसे अपना मन शक्तिशाली और समर्थ होता है । तात्पर्य यह है कि अपने आपको इस प्रकारके कर्मोंमें लगाना चाहिये और मनकी तन्मयतासे ही उक्त कर्म करने चाहिये । ऐसा करनेसे मनकी शक्ति बढ जाती है और वह " समर्थ " हो जाता है । इस विषयमें निम्न मंत्र देखिये—

आकूतिं देवीं सुभगां पुरो दधे चित्तस्य माता सुहवा नो अस्तु ।
यामाशामेमि केवली सा मे अस्तु विदेयमेनां मनसि प्रविष्टाम् ॥

(अ० १९।४।२)

(सुभगां) उत्तम भाग्ययुक्त (आकूतिं देवीं) [illegible]रूप देवताको मैं (पुरः दधे) आगे धरता हूं । वह चित्तकी मा[illegible] वह (नः सुहवा) हमारे लिये उत्तम आदरणीय (अस्तु) होवे [illegible]) जिस दिशामें (एमि) मैं जाऊं (सा केवली) वह निर्दोषता [illegible] (मे अस्तु) मुझे प्राप्त होवे । यह संकल्प देवता जिस समय (मनसि प्रविष्टां) मनमें प्रविष्ट होती है, उसी समय (एनां विदेयं) उसे मैं जान सकूं । संकल्प चित्तको अर्थात् चिंतनकी शक्तिको प्रेरित करता है । मनमें

जैसा संकल्प होता है, वैसा ही विचार होता है। वह संकल्प जिस दिशामें जिस विषयक्षेत्रमें कार्य करता है उसमें वैसा ही सिद्धिका फल मिलता है। इसलिये जिस समय मनमें संकल्प उठे, उसी समय उसको शुभ संकल्प बनाना चाहिये। ऐसा करनेसे ही मनुष्यकी उन्नति होगी।

यो वः शुष्मो हृदयेष्वन्तराकूतिर्या वो मनसि प्रविष्टा।
तान्त्सीवयामि हविषा घृतेन मयि सजाता रमतिर्वो अस्तु ॥
(अ० ६।७३।२)

आपके (हृदयेषु अंतः) हृदयके बीचमें जो (शुष्मः) बल है और जो (आकूतिः) संकल्प आपके मनमें प्रविष्ट हुआ है, उनको मैं (घृतेन) घी अर्थात् स्नेहपूर्ण (हविषा) यज्ञसे, (सीवयामि) मैं मिलाता हूं। हे (सजाताः) सजातीय लोगो ! (मयि) मेरे अंदर (वः रमतिः) आपका रमना (अस्तु) होवे।

हृदयका बल और मनका संकल्प एक कार्यमें लगने चाहिये, जिससे हरएक कार्य उत्तम रीतिसे पूर्ण हो सकता है। इस प्रकार हृदय और मनका एक भाव होकर सबके अंदर स्नेहपूर्ण भाव बसने लगा, तो उन लोगोंमें जो जातीयता होती है, वह विलक्षण संघका बल उत्पन्न करती है। तात्पर्य यह है, कि मनके संकल्प शुभ और पवित्र बननेसे मनुष्यकी निज उन्नति तो होती ही है, परंतु राष्ट्रीयताका और जातीयताका बलभी उसी शुभ संकल्पोंसे बढता है। जिस राष्ट्रमें जातियोंके परस्पर झगडे होते हैं, उस राष्ट्रके लोगोंको यह उपदेश सदा मनमें रखना चाहिये। जाति जातिके परस्पर झगडे हटानेका एकमात्र उपाय यह है, कि उन लोगोंके मनोंके संकल्प शुभ बनाये जांय अन्य उपायोंसे ये झगडे हटते नहीं है। अब मनको शुभसंकल्पमय बनानेके लिये खानपानके आवश्यक पथ्यका विचार करना चाहिये। इस विषयमें निम्न मंत्र देखिये।

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये ।
मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम् ॥ (अ० ६।४१।१)

मनके लिये (चेतसे) ज्ञानके लिये (धिये) धारणावती बुद्धिके लिये (आकूतये) संकल्पके लिये तथा चित्तके लिये (मत्यै) मतिके लिये, (श्रुताय) श्रवण शक्तिके लिये, (चक्षसे) दृष्टिके लिये, (वयं) हम (हविषा विधेम) अन्नादि द्वारा उन्नतिका उपाय करते हैं। अन्नादिका सेवन इस प्रकारसे करना चाहिये, कि जिससे मन, ज्ञान, बुद्धि, संकल्प, भक्ति, चित्त, श्रवण, दर्शन, आदि इन्द्रियां नीरोग बलवान और अपनी पूर्ण शक्तिसे युक्त हों। ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिये, कि जिससे शक्तिकी क्षीणता हो सके।

आश्विना तेजसा चक्षुः प्राणेन सरस्वती वीर्यम् ॥
वाचेंद्रो बलेनैंद्राय दधुरिंद्रियम् ॥ (य० २०।८०)

"अश्विदेव तेजके साथ चक्षु देते हैं, सरस्वती प्राणशक्तिके साथ वीर्य देती है, इन्द्र (इन्द्राय) जीवात्माके लिये वाणी और बलके साथ इंद्रिय-शक्ति अर्पण करता है।" इस मंत्रमें सरस्वती जीवनशक्तिके साथ वीर्य देती है, ऐसा कहा है। सरस्वती शब्द विद्याकी संस्कृतिका वाचक प्रसिद्ध है। अश्विनौ शब्द धन और ऋण शक्तियोंका वाचक है। विद्यासे बलकी वृद्धि होती है, यह स्पष्ट ही है।

पाठ ३

इस पुस्तकके प्रथम पाठमें एक मंत्र लेकर उस मंत्रके प्राचीन, अर्वाचीन भाष्यकारोंके किये अनेक अर्थ बताये । उन अर्थोंमें जो भिन्नता है वह परस्पर विरोध है या अविरोध है इस बातका अब विचार करना है । देखिये इसका विचार—

वास्तवमें देखा जाय तो कोई भाष्यकार यह नहीं कहता कि वेदमंत्रोंके जितने अर्थ संभवनीय हैं, उतने सब अपने भाष्योंमें दिये गये हैं । न सब अर्थ देनेका किसीने प्रयत्न किया है और न किया जाना संभव भी है; क्योंकि वेदकी अगाधता और गंभीरता अर्थकी दृष्टिसे ही है, उस गहराईका पार कौन लगा सकता है । इस बातको सब भाष्यकार मानते हैं, इसलिये सब भाष्य संक्षेपसे ही किये जाते हैं ।

भाष्यकारोंकी दृष्टि भिन्नभिन्न होती है, कोई आध्यात्मिक दृष्टिसे करता है, कोई आधिभौतिक दृष्टिसे करता है तथा कई अन्य भिन्न भिन्न दृष्टिसे करते हैं । परंतु उससे यह नहीं सिद्ध होता, कि उनके किये अर्थोंसे भिन्न अर्थोंका खंडन उन्होंने किया है । एक दृष्टिको मुख्य रखकर अन्य दृष्टियोंको गौण मानना भाष्यकारकी इच्छा है । वैयक्तिक उन्नतिमें आध्यात्मिक दृष्टि मुख्य है, सामाजिक और राष्ट्रीय उन्नतिमें आधिभौतिक दृष्टि मुख्य है, तथा जगत्की दृष्टिसे आधिदैविक दृष्टि मुख्य है । वास्तवमें तीनों बातें अपनी अपनी परिस्थितिके अनुकूल मुख्य ही हैं, परंतु प्रत्येक मंत्रके तीनों अर्थोंकी खोज करना बडे प्रयासका कार्य है, इसलिये भाष्यकार एक विशेष दृष्टि रखते हैं और उसीके अनुसार संक्षेपसे अर्थ करते जाते हैं । यदि एक एक मंत्रके अनंत अर्थ बनाते जायगे तो इतना बडा ग्रंथ बनेगा कि जिसको पढना ही असंभव हो जायगा ।

इस प्रकार वेदमंत्रोंके अर्थोंकी भिन्नता और अनेकता होनेका मूल कारण है। अब पूर्वोक्त " चत्वारि शृंगा० " मंत्रके विषयमें थोडासा लिखना आवश्यक है। उसके कई अर्थ पूर्व दिये हैं और कई लिखे भी नहीं हैं, क्योंकि इसके और दस पंद्रह अर्थ होते हैं। श्री० सायणाचार्यजीने स्पष्ट लिखा है कि इस सूक्तके पांच देवता होनेसे इस सूक्तके प्रत्येक मंत्रके पांच पांच अर्थ होते हैं, परंतु यहां एक ही अर्थ दिया है, शेष अर्थ पाठक विचार करके जान सकते हैं। देखिए—

"यद्यपि सूक्तस्याग्निसूर्यादिपंचदेवताकत्वात्
पंचधाऽयं मंत्रो व्याख्येयस्तथापि.........
सूर्यस्य प्रकाशकत्वेन तत्परतया व्याख्यायते।
........एवं तु अबादिपक्षेऽपि योज्यम् ॥ "

(ऋ. सा. भा, ४।५८।६)

" यद्यपि इस सूक्तके अग्नि, सूर्य, आप्, गो, घृत ये पांच देवता होनेसे, यह मंत्र पांच प्रकार व्याख्या करने योग्य है तथापि...यहां सूर्यपर ही व्याख्या की जाती है।...... इस प्रकार अप् आदि विषयमें योजना की जावे। "

इससे भाष्यकारोंकी सावधानता स्पष्ट होती है। अनेक अर्थोंको मानते और जानते हुए भी स्थलके अभाव और ग्रंथविस्तारके भयके कारण ये विचारे चुप ही रह जाते हैं। उक्त मंत्रके पांचों देवताओंके विषयमें इतना ही यहां वक्तव्य है, अग्नि सूर्यादि पांचों देवताओंके [illegible] तीनों स्थानोंमें तीन तीन भाव होनेसे पंद्रह अर्थ तो निश्चित ही हो गये, [illegible] अन्य प्रकरणके अनुसार जो होंगे वे भिन्न हैं। भाष्यकार लिखनेवाले [illegible] भी कहांतक अर्थ देते रहेंगे। परंतु आश्चर्यकी बात यह है कि जो अर्थ [illegible] नये हैं, वे ही अधिक हैं, ऐसा आजकलके अल्प दृष्टिके लोग समझ रहे हैं !!! और उनकी संगतिको न देखते हुए काल्पनिक विरोधको ही देखते हैं !!!

" चत्वारि शृंगा० " मंत्रके पूर्वोक्त अर्थोंमें तैत्तिरिय आरण्यकमें श्री० सायणाचार्य जो अर्थ करते हैं, वह आध्यात्मिक अर्थ है, परंतु वह जीवात्मा परमात्मा पर लगाया जा सकता है। अरण्यकोंका विषय ही आध्यात्मिक होनेसे यहां इसका अर्थ श्री० सायणाचार्यजीने जो किया है सो ठीक ही है। आरण्यकोंमें सेकडों वेदमंत्र इस प्रकार अध्यात्म भावके प्रतिपादनार्थ लिये गये हैं। उक्त अर्थमें " प्रणव " का भाव मुख्य है। प्रणवका अर्थ "शब्द" है। इस अर्थको लेकर महामुनि पतंजलिने शब्दशास्त्रपर-अर्थात् व्याकरण-शास्त्रपर अर्थ किया है। यही भाव धर्मध्वज श्री० स्वा० दयानंद सरस्वती-जीने यजुर्वेदमें लिया है। अर्थात् यह अर्थ भी उक्त अर्थके अनुसार ठीक ही है। उक्त मंत्रकी ' अग्नि ' देवता ' यज्ञ और ज्ञान ' की द्योतक है। श्री यास्काचार्यने जो यज्ञपर अर्थ गोपथ ब्राह्मणके अनुसार किया है वह उक्त देवताका भाव मनमें धारण करके ही किया है, इसलिये इसको भी कोई प्रकरणके विरुद्ध नहीं कह सकता। यज्ञ और ज्ञान मिलकर ही सनातन धर्म होता है। ज्ञानकांड और कर्मकांड रूप " धर्म " के भावको लेकर श्री० स्वा० दयानंदजीने ऋग्वेदमें अर्थ किया है, वह भी असंगत कैसे माना जा सकता है ? अर्थात् उक्त सब अर्थ, तथा इनसे भिन्न भी जो अनेक अर्थ होना पूर्वोक्त कथनके अनुसार संभवनीय हैं, वे सब अर्थ उक्त " चत्वारि शृंगा० " मंत्रके हैं। कोई कारण नहीं कि इनमें कोई विरोध अथवा खेंचातानी माने। आग्रह और दुराग्रहको छोडकर विचार किया जायगा तो सब अर्थ उस मंत्रके ठीक ही हैं।

भगवान् पतंजलि आदि ऋषिमुनियोंको वेदका हृद्गत हमारेसे अधिक [illegible] था। वे न कभी खेंचातानी करेंगे और न कभी विरोधमय अर्थ लिखेंगे। उनके अर्थोंसे ही हमें वैदिक अर्थोंकी शैली जानना चाहिये। उनके विभिन्न अर्थोंमें जो " सूक्ष्म और गुप्त एकता " है वह वैदिक शैलीकी द्योतक है। खंडन और मंडन करनेके पूर्व प्रिय पाठकोंको उचित

है, कि वे सबसे प्रथम " वैदिक शैली " को जाननेका यत्न करें। पश्चात् खंडनके लिये बहुत समय मिलेगा, अथवा यों कहना अधिक उचित होगा कि पश्चात् खंडन करनेका प्रसंग ही नहीं आवेगा। आज कल जितने खंडन मंडन हो रहे हैं, उनमें विकारीभाव प्रधान है। वैदिकशैलीका परिज्ञान होनेके पश्चात् जहां थोडासा विरोध प्रतीत होगा वहां ही खंडनका प्रसंग आ जायगा।

अब यहां पाठक पूछेंगे कि एक ही मंत्रके विविध अर्थ कैसे प्रमाण माने जा सकते हैं? क्या कभी एक ही वाक्यके विविध अर्थ हो सकते हैं? उत्तरमें निवेदन है कि, वेदमंत्रके मुख्य दो भेद हैं। (१) एक विभागमें स्पष्ट अर्थ बतानेवाले सब मंत्र आते हैं। जैसा- " गां मा हिंसीः। " गायकी हिंसा न कर। (यजु-१३।४२) यह मंत्र है। यद्यपि इस मंत्रमें " गो " शब्दके इंद्रिय, वाणी, गाय, भूमि आदि अनेक अर्थ हैं, और मुख्य " गो " शब्दके अनेक अर्थ होनेसे मंत्रके भी अनेक अर्थ होना संभव है, तथापि मंत्रका कथन स्पष्ट है और संदिग्ध नहीं है। ऐसे स्पष्ट कथनवाले मंत्रोंको " अपरोक्ष- विषयक- मंत्र " कहते हैं। (२) दूसरे मंत्र होते हैं, कि जिनमें गुप्त संकेतसे विशेष बातें कहीं होतीं हैं। मंत्रके शब्दोंसे स्पष्ट रूपसे कोई भी अर्थ नहीं निकलता, परंतु सब भाव गुप्ततासे शब्दोंके बीचमें छिपा रहता है। इस प्रकारके मंत्रोंको " परोक्ष- विषयक- मंत्र " कहा जाता है। जिसका उत्तम उदाहरण " चत्वारि शृंगा " मंत्र है। इसका शब्दार्थ निम्न प्रकार है।

" चार सींग, तीन इसके पांव, दो सिर और सात इसके हाथ हैं। तीन प्रकारसे बंधा हुआ सिंचक और शब्द करनेवाला बडा देव मनुष्योंमें प्रविष्ट होवे। "

उक्त मंत्रका शब्दशः यह अर्थ है। परंतु इससे क्या बोध होता है? कौनसे पांव, कौनसे सिर, कौनसे हाथ, कहां बंधा हुआ है, किसका

सिंचन करता है, किस प्रकारका शब्द करता है यह किससे बडा है और यह मनुष्योंमें किस प्रकारसे आसकता है इसका कोई पता यहां नहीं है। इसका निम्न प्रकार अंग्रेजी भाषांतर किया करते है—

Four are his horns, three are the feet that bear him; his heads are two, his hands are seven in number. Bound with a triple bond the Steer roars loudly. The mighty God entered into mortals.

(Mr. Griphiths Rigveda)

इसका भाव ऊपर दिये शब्दार्थके समान ही है। कोई भी इसके शब्दोंका भिन्न अर्थ नहीं कर सकता। 'वृषभ' शब्दका अर्थ इसने Steer किया है, उसमें मतभेद हो सकता है। परन्तु उसका कोई भी अर्थ करनेसे कुछ भी बोध नहीं हो सकता। जिन मंत्रोंके शब्दोंसे कोई भी प्रत्यक्ष बोध नहीं होता उन मंत्रोंको ही "परोक्ष विषयकमंत्र" कहा जाता है। इसीको Enigma, riddle, puzzle अर्थात् गूढ प्रश्न, संकेतका कथन, गोरख धंदा आदि कहते हैं। सब परोक्षविषयक मंत्रोंकी यही अवस्था है। इन मंत्रोंका यही लक्षण है कि इन मंत्रोंके शब्दोंसे कोई स्पष्ट भाव स्वयं व्यक्त नहीं होता तथा बाहरके शब्द अध्याहृत लिये विना कभी इनका अर्थ हो ही नहीं सकता। इसलिये इनका विचार विशेष ढंगसे ही करना चाहिये।

पाठ ४

पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन्पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन् ।
पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन् ।
वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात् ॥
(य० ४।१५)

" मेरा मन, आयुष्य, प्राण, आत्मा, चक्षु, श्रोत्र आदि पुनः मुझे प्राप्त हुए हैं । (तनूपाः) शरीरका रक्षक, सब जनोंका हितकारी आत्मा पापोंसे हम सबको बचावे । "

सोनेके समय मन आदि सब इंद्रियां लीन हो गई थीं, यद्यपि प्राण जागता था तथापि उसके कार्यका भी पता हमको नहीं था । वह सब कलके समान आज पुनः प्राप्त हुआ है । यह आत्माकी शक्तिका कितना आश्चर्यकारक प्रभाव है ? वह आत्मशक्ति हमको पापोंसे बचावे । जिस प्रकार निद्राके पश्चात् पूर्ववत् संपूर्ण इंद्रियां आदि प्राप्त होतीं हैं, ठीक उसी प्रकार महानिद्राके पश्चात् भी चक्षु, श्रोत्रादि संपूर्ण शक्तियां हमें प्राप्त होती हैं । महानिद्रा ही मृत्यु है, इस मृत्युके पश्चात् पुनः जन्म प्राप्त होकर पूर्ववत् संपूर्ण शक्तियोंसे युक्त शरीर मिलता है । इस प्रकार इस मंत्रमें निद्राके वर्णनसे महा-निद्रा के पश्चात् की अवस्था संकेत रूपसे बताई है । यही पुनर्जन्म की कल्पना है ।

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥
(य० ३४।१)

(यत्) जो (जाग्रतः) जागृत अवस्थामें (दूरं उदैति) दूर दूर भागता है और सुप्त अवस्थामें भी वैसा ही (एति) जाता है, (तत्) वह (दूरंगमं) दूर दूर पहुंचने वाला (ज्योतिषां ज्योतिः) ज्योतियोंका भी

ज्योतिरूप (एकं) एक मात्र (दैवं मे मनः) दिव्य शक्तिसे युक्त मेरा मन (शिवसंकल्पं) शुभ संकल्पमय (अस्तु) होवे ।

मन जागृत, स्वप्न और निद्रामें दूर दूर भागता है और भटकता है, वह किंचित् काल भी स्थिर रहता नहीं है । वह सदा चंचल रहता है । परंतु उसके अंदर अद्भुत दैवी बल रहता है । यह मन अत्यंत वेगवान् है और तेजस्वीयोंका भी प्रकाशक है । इस प्रकारका यह मन शुभ संकल्प-युक्त होना चाहिये । अन्यथा इसकी जो अद्भुत शक्ति है, वही मनुष्यके घातका हेतु हो सकती है ।

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥
(य० ३४।२)

(येन) जिस मनसे (अपसः) पुरुषार्थी (धीराः) बुद्धिमान् (मनीषिणः) मनका संयम करनेवाले लोग (यज्ञे) सत्कर्ममें और (विदथेषु) युद्धादिके स्थानोंमें भी (कर्माणि कृण्वन्ति) कर्म करते हैं, (यत्) जो मन (प्रजानां अन्तः) प्रजाओंके बीचमें (अपूर्वं यक्षं) अपूर्व पूज्य है, (तत् मे मनः) वह मेरा मन शुभसंकल्पयुक्त होवे ।

सब लोक अपने मनके द्वारा ही सब कर्म करते हैं । शांतिके समयके कर्म और युद्धादिके अशांतिके उद्योग भी उक्त मनके द्वारा ही किये जाते हैं, इसलिये सिद्ध होता है, कि मनके शुद्ध होनेसे कर्म शुद्ध होंगे और अशुद्ध होनेसे कर्म भी अशुद्ध होंगे । यह अपूर्व शक्तिशाली मन प्रजा-ओंके बीचमें अंतःकरणके स्थानमें रहता है । यह मन सदा शुभ संकल्प करे । क्योंकि यदि यह मन शुभ संकल्प करेगा तो ही यह उत्तम निर्दोष कर्म कर सकता है, अन्यथा यही दोषयुक्त कर्म करके मनुष्यको भी दोषी बनायेगा । अतः मनको शिवसंकल्प युक्त बनाना आवश्यक है ।

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरंतरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥
(य० ३४।३)

“ जो मेरा मन (प्रज्ञानं) ज्ञान (चेतः) चिंतनशक्ति और (धृतिः) धैर्यसे युक्त है तथा जो (प्रजासु अंतः) प्रजाओंमें (अमृतं) अमृतरूप और (ज्योतिः) तेजोरूप है, (यस्मात् ऋते) जिस मनके बिना (किंचन कर्म) कोई भी कर्म (न क्रियते) किया नहीं जाता, वह मेरा मन शुभ विचार करनेवाला होवे। ”

मनके अंदर ज्ञानशक्ति, चिंतनशक्ति और धैर्य शक्ति रहती है और यह मन प्रजाओंमें अमृतमय और तेजोमय है। यह इतना शक्ति-शाली है कि इसके बिना कोई मनुष्य कोई भी कर्म कर नहीं सकता। सब कर्म इसकी सहायतासे ही किये जाते हैं। इसलिये इसको शुभसंकल्पमय बनाना चाहिये।

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्त होता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥
(अ० ३४।४)

(येन अमृतेन) जिस अमर मनने भूत भविष्य वर्तमान (सर्वं) सब कुछ (परिगृहीतं) स्वीकृत किया है, जान लिया है, (येन) जिस मन द्वारा (सप्त होता यज्ञः) सात [illegible] द्वारा होनेवाला यज्ञ (तायते) फैलाया जाता है, वह मेरा मन शुभसंकल्प[illegible]

भूत भविष्य वर्तमान कालमें जो कु[illegible] मनद्वारा ही ग्रहण किया जाता है। अर्थात् मनद्वारा वह घेरा [illegible] शक्ति उससे बढकर है। पंच ज्ञानेंद्रिय और अहंकार तथा [illegible] यह जीवन यज्ञ चलाया जा रहा है, वह मनके अधिष्ठातृत्वमें ही चल [illegible] है। इस प्रकार जो मन सब कार्यकारी इंद्रियगणोंका मुख्याधिष्ठाता है, वह मन सदा शुभ संकल्प करनेवाला बने और कदापि अशुभ संकल्प न करे।

यस्मिन्नृचः साम यजूँषि यस्मिन्प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिँश्चित्तँ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥
(य० ३४।५)

(यस्मिन्) जिस मनमें ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद, तात्पर्य सब वेद (रथनाभौ आराः इव) रथनाभिमें आरोंके समान (प्रतिष्ठिताः) स्थिर हो गये हैं, सब प्रजाओंका चित्त (यस्मिन्) जिसमें (ओतं) ओत-प्रोत भरा है, वह मेरा मन शिवसंकल्प मय होवे ।

मनके अंदर संपूर्ण वेद और सब शास्त्र तथा अन्य सब ज्ञान ओतप्रोत भरा रहता है, अर्थात् ज्ञानीके मनमें यह सब ज्ञान रहता है । मनकी शक्ति ऐसी है कि जिसमें यह सब ज्ञान रह सके । सब प्राज्ञ लोग इसीसे मनन करते हैं । इस प्रकारका यह शक्तिशाली मन सदा शुभ विचारसे युक्त होवे ।

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥
(यजु० ३४।६)

" जिस प्रकार (सु—सारथिः) उत्तम सारथि (अश्वान्) घोडोंको चलाता है, उस प्रकार (यत्) जो (मनुष्यान्) मनुष्योंके इंद्रियरूपी अश्वोंको (अभीशुभिः) लगामों द्वारा चलाता है और जो (हृत्प्रतिष्ठं) हृदयमें रहता हुआ, (अजिरं) अजर और (जविष्ठं) वेगवान् है, वह मेरा मन उत्तम शुभ संकल्पयुक्त होवे । "

रथका सारथी जिस प्रकार घोडोंको चलाता है, उस प्रकार यह मन इंद्रियोंको चलाता है । इसीलिये इसका संकल्प शुभ होना चाहिए। नहीं तो यह इंद्रियोंको किसी गढेमें गिरा देगा । यह मन हृदयमें रहता हुआ अनंत गतिके साथ चलता है । इस प्रकारका शक्तिशाली मन सदा शुभ संकल्पसे युक्त होवे । मनुष्योंको उचित है, कि वे इस उपदेशके अनुसार अपने मनको शुभ संकल्पमय बनावें और अपनी उन्नति सिद्ध करें ।

——०——

पाठ ५

जो मंत्र हमने विचारके लिये लिया है उसके भिन्न भिन्न आचार्य कैसे अनेक अर्थ करते हैं और उनमें जो स्पष्ट भिन्नता है वह विरोधकी सूचक है वा अविरोधकी सूचक है, इस बातका विचार करते हुए इससे पूर्वके पाठोंमें बताया गया है कि एक मंत्रके अनेक अर्थ होना स्वाभाविक ही है, इसलिये एक ही मंत्रके अनेक अविरोधी भी अर्थ हो सकते हैं।

इसी प्रकार जो कूट मंत्र होते हैं उनके तो अनेक अर्थ होना स्वयं सिद्ध ही है क्योंकि उनकी कूटताका यही एक विशेष कारण है। इस विषयकी अधिक स्पष्टता इस पाठमें विशेष करनी है। इसलिये यहां कूट मंत्र खोल-नेकी रीति स्पष्ट करते हैं। पूर्व दिये हुए " चत्वारि शृंगा० " मंत्रके शब्दार्थ देते हैं। बीचमें स्थान छोड दिये हैं उनमें अपेक्षित विभागके शब्द रख देनेसे विवक्षित अर्थ स्वयं प्रकट हो जाता है। देखिये उस मंत्रका कूटार्थ—

" (...... ये इसके) चार सींग हैं (......... ये) इसके तीन पांव हैं, (......... ये इसके) दो सिर हैं, और इसके (...... ये) सात हाथ हैं। (यह .... इन) तीन स्थानोंमें बंधा है, (इसका ...... यह) सिंचन करता है, (......... इस) शब्दको करनेवाला (...... यह) बडा देव मनुष्योंमें प्रविष्ट होवे ।"

जहां जगह छोडी है वहां बाहरसे शब्द लेकर अर्थकी पूर्णता करना है। यही इसमें गुप्त संकेत है। इस प्रकारके संकेत वेदमें अनेक हैं, और यही वेदकी " गुप्त विद्या " है। " गुह्याद्गुह्यतरं महत् " गुह्यसे गुह्य ज्ञान वेदमें इसी रीतिसे भरा है। जिनकी इस प्रकारकी आंखें होगीं, वे ही इस गुप्त ज्ञानको देख सकते हैं, साधारण तर्ककी वहां गति नहीं है। इससे पाठक जान सकते हैं, कि " परोक्षविषयक मंत्रोंकी रचना " किस प्रकार

की होती है। जो गुप्त विद्याके पुस्तक होते हैं उन सबमें ऐसी ही रचना हुआ करती है। गुप्त रीतिका जिसको पता नहीं हैं, वह ग्रंथ पढकर भी गुप्त आशयका पता नहीं लगा सकता। इसी प्रकार कई अन्य गुप्त संघोंकी संकेत भाषा होती है। जो पाठक इस आधुनिक गुप्त संकेतके भाषाओंको जानते हैं, वे उक्त मंत्रकी संकेतरूपताको जान सकते हैं। वेदमें इससे भी बढकर संकेत हैं। वैदिक संकेत–लिपियोंमें "चत्वारि शृंगा०" मंत्र अत्यंत सरल है। तात्पर्य "संकेत–लिपि" सर्वत्र दुर्बोध ही होती है। इसी प्रकार वेदके प्रायः सब "परोक्षविषयक–मंत्र" दुर्बोध होते हैं। इन मंत्रोंमें अनेक विषय लिखे होते हैं, इसलिए एक ही मंत्र अनंत भावों-का प्रदर्शन करनेका सामर्थ्य रखता है।

इन संकेत– मंत्रोंको खोलनेके लिये वैदिक परिभाषामें अन्य वेदमंत्रोंके उपदेशानुसार "गण" बनाये गये हैं। ऋषि मुनियोंके द्वारा ब्राह्मणादि ग्रंथोंमें कई "गण" लिखे हैं, और कई गणोंका सूचना मात्र दिग्दर्शन किया है। इन गणोंके शब्दोंको उक्त मंत्रके "रिक्त स्थानों" में अर्थात् खुले स्थानपर रख देनेसे मंत्रका अर्थ स्पष्ट और व्यक्त हो सकता है। उन गणोंमेंसे थोडेसे गण नीचे देता हूं–

(१) "आत्म गण"– । जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्या ॥ सत्त्व, रज, तम ॥ चित्, अचित् ॥ सत्ता, कल्पना, आनंद, महत्त्व, प्रजनन, तेज, सत्त्व॥ स्थूल, सूक्ष्म, कारण ॥ अभौतिक बल । स्फुरण शब्द ॥ आत्मा ॥

इस आत्म-गणके शब्द क्रमशः रिक्त स्थानमें रखिए, जिससे उक्त मंत्रका आत्मपरक अर्थ ऐसा हो जायगा–

" (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्या ये इसके) चार सींग हैं। (सत्त्व, रज, तम ये) इसके तीन पांव हैं, (चित् और अचित् ये इसके) दो सिर हैं और इसके (सत्ता, कल्पना, आनंद, महत्त्व, प्रजनन, तेज और

सत्य) ये सात हाथ हैं। (यह स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरोंमें) तीन स्थानोंमें बंधा है, (यह अभौतिक,-आत्मिक-बलका) सिंचन करता है; (स्फुरण शब्द) को करनेवाला (यह आत्मा) महान् देव मनुष्योंमें प्रविष्ट होवे।"

इसका स्पष्टीकरण आत्माकी शक्तियां जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्या, इन चार अवस्थाओंमें बाहेर आकर कार्य करतीं हैं; जैसे बैलकी शक्ति सींगोंमें आकर कार्य करती है। आत्माके पांव सत्त्व, रज, तम, रूप प्रकृतिमें रखे जाते हैं। आत्माके दो मुख्य भाग हैं। चित् संज्ञक भाग चेतन प्राणियोंमें दीखता है। और दूसरा वृक्षादि स्थावरोंमें दीखता है। सत्ता कल्पना आदि सप्त शक्तियोंसे वह आत्मा शरीरमें कार्य करता है। यह आत्मा स्थूल, सूक्ष्म, और कारण संज्ञक तीन शरीरोंमें बांधकर रखा है। यह आत्मिक बल देता है। हृदयके अंदर स्फुरणरूप गुप्त शब्द-को प्रेरणा यह करता है। आत्मा ही महान् देव है, वह सब मनुष्योंमें आकर कार्य करे अर्थात् स्वतंत्रतासे अपने भावोंको व्यक्त करे। सामान्य मनुष्योंमें आत्मा परतंत्रसा रहता है, उसकी यह परतंत्रता दूर होवे और वह अपने निज रूपमें कार्य करनेके लिये समर्थ होवे।

यह उक्त मंत्रका तात्पर्य " आत्मिक दृष्टि " से है। इसी प्रकार अन्य दृष्टियोंसे देखना उचित है। अन्य गणोंका विचार करनेसे अन्य बातें पाठक स्वयं जान सकते हैं, इसलिये अन्य गणोंका संक्षेप नीचे दिया जाता है—

(२) " यज्ञ-गण "- ब्रह्म, पितृ, भूत, देव, मनुष्य ॥ अध्यात्म, अधि-भूत, अधिदैव, ॥ अकर्म और कर्म ॥ सप्त होता गण ॥ विचार, उच्चार, आचार ॥ सुफलता ॥ प्रेरणाका शब्द ॥ यज्ञ (सूचना इसमें भूतयज्ञमें नरयज्ञ अंतर्भूत हुआ है।)

(३) " मंत्र गण " - ऋग्, यजुः, साम, अथर्व ॥ प्रथम मध्यम

और उच्च स्वर ॥ परोक्ष और अपरोक्ष विषय ॥ सात छंद ॥ उदात्त अनु-अनुदात्त और स्वरित ॥ ज्ञान ॥ शब्द ॥ मंत्र ॥

(४) " शब्द—गण " नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात ॥ भूत, भविष्य, वर्तमान ॥ नित्य और कार्य ॥ सात विभक्तियां ॥ छाती, कंठ और सिर ॥ ज्ञान ॥ वक्तृत्व ॥ शब्द ॥

(५) " सूर्य–गण " -- चार दिशा ॥ प्रभात, मध्यान्ह और सायं-काल ॥ प्रकाश और अंधकार ॥ सात प्रकारके रंगोंवाले किरण ॥ पृथिवी, अंतरिक्ष और आकाश ॥ प्रकाश ॥ गतिका शब्द ॥ सूर्य ॥

(६) " काल--गण " भूत, भविष्य, वर्तमान, अ-काल ॥ उष्णता, वृष्टि और सर्दी ॥ आदि और अंत ॥ सात ऋतु ॥ प्रातः मध्यंदिन और सायंकाल ॥ वायु ॥ प्रेरणाका शब्द ॥ काल अथवा समय ॥

(७) " धर्म गण " धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ॥ ज्ञान, कर्म और भक्ति ॥ अभ्युदय और निःश्रेयस ॥ श्रद्धा, दया, संतुष्टि, क्रिया, मेधा, तितिक्षा और शांति ॥ स्तुति, प्रार्थना और उपासना ॥ उत्कर्ष प्रेरणाका शब्द ॥ धर्म ॥

इस प्रकार कई अन्य गण हैं। परंतु सबको यहां देनेके लिये स्थान नहीं है। पाठक इन गणोंको पूर्वोक्त रिक्त स्थानमें रखें और देखें कि कैसा पूर्ण अर्थ हो जाता है। जो पाठक वेदोंका स्वाध्याय करते हैं, उनसे प्रार्थना है कि वे इन शब्दोंको लिखकर प्रत्येक प्रकारका अर्थ कागजपर लिख कर रखें। तथा पूर्वोक्त आध्यात्मिक अर्थके स्पष्टीकरणके समान हरएक अर्थका स्पष्टीकरण लिखें। तथा अन्य गणोंका संग्रह करके अन्य अर्थोंको भी [illegible] पुरुषार्थ करें। केवल एक वार पढनेसे कार्य नहीं होगा। वेदके गूढ अर्थके ज्ञानका आविष्कार करनेकी रीति सुगम करनेका इसी प्रकार प्रयत्न होना आवश्यक है। अस्तु।

पूर्वोक्त गणोंमें तथा अन्य न लिखे हुए गणोंका विचार करके और ब्राह्मण वचनोंके आंतरिक भावोंका अनुसंधान करके तथा भाष्यकारोंके सब अर्थोंका परिशीलन करनेके पश्चात् सब गणोंका आविष्कार करना संभव है। कई स्थानोंमें शतपथादि ब्राह्मण ग्रंथोंमें ये गण दिये हैं। कई स्थानोंमें केवल निर्देश मात्र किया है। जब कभी ये सब गण बड़े आंदोलनके साथ शुद्ध और ठीक बनाये जांयगे, तब इस प्रकारके " कूट-मंत्रों " का अर्थ निश्चित हो सकेगा।

इतने विचारके पश्चात् पाठक देख सकते हैं कि इस प्रकारके " कूट मंत्र " विशेष शैलीके साथ रखे हैं। जो पंडित इनके कूटोंको समझनेकी बुद्धि नहीं रखते, तथा इस प्रकारकी " कूटी शैली " से अनभिज्ञ होते हैं, वे कहते हैं, कि " वेदका लेख गंवारपनका द्योतक है। "



पाठ ६

क इदं कस्मा अदात् कामः कामायादात् ।
कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामः समुद्रमा विवेश ।
कामेन त्वा प्रतिगृह्णामि कामैतत्ते ॥ (अ० ३।२९।७)

(कः) किसने (इदं) यह (कस्मै) किसको (अदात्) दिया है ? (कामः कामाय अदात्) इच्छाने इच्छाको दिया है। (कामः दाता) इच्छा ही दाता है और (कामः प्रति ग्रहीता) इच्छा ही लेनेवाला है। (कामः समुद्रं आविवेश) इच्छा ही समुद्रमें प्रवेश करती है। हे (काम) इच्छे ! (कामेन त्वा प्रति गृह्णामि) इच्छासे ही मैं तेरा स्वीकार करता हूं। क्योंकि (एतत् ते) यह सब तेरा ही है।

इच्छा ही सब कुछ कर रही है और करा रही है। दाता और लेनेवाला इच्छाके कारण ही होते हैं। कई समुद्रयात्रा करते हैं और कई दूसरी जगह जाते हैं, सब इच्छाके कारण ही है। इस प्रकार सब सृष्टि काम अर्थात् इच्छासे ही चल रही है।

कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
स काम कामे बृहता सयोनी रायस्पोषं यजमानाय धेहि ॥
(अ० १९।५२।१)

(अग्रे) प्रारंभमें (कामः) इच्छा (समवर्तत) थी। कामना थी। जो मनका (प्रथमं रेतः) पहिला वीर्य (आसीत्) था। हे काम (सः) वह तू (बृहता कामेन) बडी कामनाके साथ (सयोनिः) एक स्थानमें उत्पन्न (रायः पोषं) धनकी पुष्टी (यजमानाय) सत्कर्म करनेवालेके लिये (धेहि) धारण कर।

मनका पहिला वीर्य इच्छाशक्ति अर्थात् काम है। जगत्के प्रारंभमें यही इच्छाशक्ति थी। इसकी प्रेरणासे जगत् उत्पन्न हुआ। मनुष्य इसी इच्छा-शक्तिको कार्यमें लाकर अपनी यथोचित उन्नति सिद्ध करे।

त्वं काम सहसासि प्रतिष्ठितो विभुर्विभावा सख आ सखीयते।
त्वमुग्रः पृतनासु सासहिः सह ओजो यजमानाय धेहि ॥
(अ९ १९।५२।२)

हे काम ! तू (सहसा) बलके साथ (प्रतिष्ठितः असि) प्रतिष्ठित हुआ है। हे (सखे) मित्र ! तू (सखीयते) मित्रके समान आचरण करनेवालेके लिये (विभुः विभावा) समर्थ और प्रभावशाली है। तू (पृतनासु) संग्रामोंमें (उग्रः) उग्र और (सासहिः) विजयी है, इसलिये (यजमानाय) प्रशस्त कर्म करनेवालेके लिये (सहः ओजः) स्फूर्ति और बल दे।

काम अर्थात् इच्छाशक्तिमें बडा बल है। इच्छाशक्तिसे ही मनुष्य समर्थ, प्रभावी, शूर, उग्र, विजयी और उत्साही होता है। इसलिये हरएक मनुष्य योग्य रीतिसे इच्छाशक्तिका प्रयोग करके उक्त गुण अपने अंदर बढावे।

जगत्के प्रारंभमें परमात्माकी प्रबल इच्छाशक्ति स्फुरित हो गई और उस शक्तिसे यह जगत् बना है। मनुष्यमें भी इसी प्रकारकी अद्भुत शक्तिशालिनी इच्छा शक्ति है। यह इच्छाशक्ति बलवती बनानेसे अशक्य कर्म भी सुकर बनते हैं। इसलिये हरएक मनुष्य अपनी इच्छाशक्ति प्रबल बनाकर महान् पुरुषार्थी होकर आदर्श पुरुष बनें।

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥
(ऋ० १०।१५१।१)

(श्रद्धया अग्निः समिध्यते) श्रद्धाभक्तिसे अग्नि प्रदीप्त किया जाता है। श्रद्धासे ही हवन-सामग्रिका (हूयते) हवन किया जाता है। (भगस्य मूर्धनि) ऐश्वर्यके शिरपर हम सब (श्रद्धां) श्रद्धाको (वचसा वेदयामसि) प्रशंसा करने योग्य शक्ति कहते हैं ॥

श्रद्धा होगी, तो ही मनुष्य कुछ कर्तव्य कर सकता है । श्रद्धाके विना मनुष्य कुछ भी करने योग्य नहीं रहता । श्रद्धाके अंदर अद्भुत बल है । श्रद्धावान् मनुष्य अपनी श्रद्धाके बलसे अद्भुत पुरुषार्थ कर सकता है । इससे मनको श्रद्धासे युक्त बनाना चाहिये ।

प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः ।
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि ॥
(ऋ० १०।१५१।२)

हे श्रद्धादेवी ! (ददतः प्रियं) श्रद्धासे दान देनेवालेका कल्याण कर, (दिदासतः) श्रद्धासे देनेकी इच्छा करनेवालेका प्रिय कर, (भोजेषु यज्वसु) श्रद्धासे भोग और यज्ञ करनेवालोंका कल्याण कर, (इदं मे) यह मेरा सब (उदितं कृधि) उदयसे पूर्ण कर ॥

श्रद्धाभक्तिसे पुरुषार्थ, दान और कर्म करनेवालोंको यश प्राप्त होता है और उनके ही श्रम सफल होते हैं ॥

यथा देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे ।
एवं भोगेषु यज्वस्वस्माकमुदितं कृधि ॥ (ऋ० १०।१५१।३)

(यथा) जिस प्रकार देवोंने भी (उग्रेषु असु-रेषु) शूर असु-रों अर्थात् अपना जीवन अर्पण करनेवालोंमें (श्रद्धां चक्रिरे) श्रद्धा रखी थी, उस प्रकार भोग लेनेवाले और यज्ञ करनेवालोंमें (अस्माकं उदितं कृधि) हम सबका उदय करो ।

विद्वानोंको चाहिये कि वे शूरोंपर श्रद्धा रखें और शूरोंको चाहिए कि वे विद्वानोंपर श्रद्धा रखें । शूर क्षत्रिय भोग भोगनेवाले और ज्ञानी यज्ञ करनेवाले होते हैं । उनमें परस्परके विषयमें श्रद्धा चाहिये जिससे सबका [illegible] हो सकता है । ब्राह्मण क्षत्रियोंका इस प्रकार श्रद्धासे परस्पर संगठन हुआ, तो राष्ट्रमें विलक्षण बल बढता है, अर्थात् श्रद्धासे राष्ट्रीय और जातीय उन्नति भी सिद्ध हो सकती है ।

—+०+—

पाठ ७

" देव " शब्दका अर्थ ।

वैदिक भाषाके अंदर.' देव ' शब्दका अर्थ अत्यंत महत्वपूर्ण है । सबसे व्यापक और सबसे कठिन कल्पना ' देव ' शब्दके द्वारा वैदिक वाङ्मयमें प्रकट हो रही है । जबतक ' देव ' शब्दका भाव पूर्ण रीतिसे समझमें न आयेगा तबतक वेदका पठनपाठन न केवल अशक्य है, परंतु भ्रामक भी हो सकता है । इसलिये देव शब्दका थोडासा विचार करनेका निश्चय इस लेखमें किया है ।

" सब नाम धातुसे बनते हैं " ऐसा नैरुक्तोंका एक मतसे निश्चय है और व्याकरण-कर्ताओंमेंसे कई व्याकरण इस विषयमें निरुक्तके साथ हैं ।

' धातु और प्रत्यय ' मिलकर संस्कृत भाषाके नाम, क्रियापद, विशेषण आदि शब्द बनते हैं । कईयोंको उपसर्ग लगता है, कईयोंको नहीं लगता । इसलिये शब्दका अर्थ निम्न प्रकार समझा जाता है—

शब्द = [(उपसर्ग) + धातु + प्रत्यय / लिंग + वचन + विभ[illegible]] = शब्दका अर्थ ।

अर्थात् शब्दका मूल अर्थ वही है, कि जो धातु[illegible] [illegible]र्ग यदि लगा होगा तो उससे नियमित होकर, प्रत्यय द्वारा सुसंस्कृ[illegible] [illegible], लिंग --वचन-विभक्तिके ढांचेमें ढाला जाकर, व्यक्त होता है ।

यहां देव शब्दके विचारमें उपसर्ग है ही नहीं । ' दिव् ' धातुसे ' [illegible] ' प्रत्यय लगकर देव शब्द बनता है । वचनसे एकत्व, द्वित्व अथवा बहुत्व-

का बोध होगा और विभक्तिसे उसका अन्य शब्दोंसे संबंध व्यक्त होगा। लिंगके द्वारा वैदिक भाषामें क्या और संस्कृत भाषामें क्या अर्थका बहुत भेद नहीं होता। देखिये—

(पुल्लिंग)	(स्त्रीलिंग)	(नपुंसकलिंग)
देवः	देवी, देवता	दैवतं
लेखः	पत्रिका	पत्रं
मोक्षः	मुक्तिः	कैवल्यं
वेदः	श्रुतिः	ज्ञानं
दाराः	वनिता	कलत्रं
स्तवः	स्तुतिः	स्तोत्रं

यद्यपि कई स्थानोंपर रूढिमें लिंगभेदसे अर्थभेद होता भी है तथापि प्रारंभिक अवस्थामें भेदका अभाव प्रतीत होता है; इसीलिये परमात्माके लिये वेदमें तीनों लिंगोंमें शब्द प्रयुक्त हुए हैं। प्रकृत विषयमें 'देवः, देवता, दैवतं' इन तीनों शब्दोंद्वारा एक ही आशय निकलता है, यही बात यहां बतानी है। अन्य शब्दोंमें अर्थभेद बताया भी जा सकता है, परंतु इस शब्दके विषयमें कोई अर्थभेद नहीं होता है। अस्तु। पूर्वोक्त प्रकारसे 'देव' शब्दका अर्थ निम्नप्रकार हो सकता है—

$$\text{देवः} = \left[\frac{\text{(उपसर्ग)} + \text{दिव्} + \text{अ}}{\text{लिंग} + \text{वचन} + \text{विभक्ति}} \right] = \text{देव शब्दका अर्थ।}$$

गणितकी परिभाषामें देव शब्दका यह अर्थ है। इसके अर्थका निश्चय करनेके लिये हमें सबसे प्रथम 'दिव्' धातुका अर्थ देखना चाहिये—

'दिव्' धातुका अर्थ— (१) क्रीडा- मर्दानी खेल खेलना; (२)

विजिगीषा– विजयप्राप्तिकी इच्छा करना; (३) व्यवहार– व्यापार व्यवहार करना; (४) द्युति– प्रकाशित होना; (५) स्तुति– प्रशंसा करना; (६) मोद– आनंदित होना; (७) मद– संतुष्ट होना; (८) स्वप्न– उत्तम निद्रा प्राप्त करना; (९) कांति– प्रीति करना; (१०) गति– हलचल करना; (११) दान– देना। इतने इस धातुके अर्थ हैं। ये ही देव शब्दमें अर्थ हैं ऐसा समझ लीजिए।

अर्थात् (१) मर्दानी खेल खेलनेकी ओर प्रवृत्ति, (२) विजयप्राप्तिकी इच्छा, (३) व्यापार व्यवहार उत्तम प्रकारसे करनेमें चतुरता, (४) तेजस्वी होनेका स्वभाव, (५) प्रशंसित काम करना और स्तुत्य बनना, (६) आनंदवृत्तिसे सदा रहना, (७) संतोष रखना, (८) उत्तम विश्राम प्राप्त करना, (९) प्रीति करना, (१०) हलचल करना, (११) परोपकार करना। ये देव शब्दके धात्वर्थ हैं।

देवत्वके उक्त लक्षण हैं ऐसा समझना उचित है। यदि किसीको देवत्व प्राप्त करना होगा तो उसको उचित है कि वह उक्त लक्षण अपने अंगमें बढानेका यत्न करे।

शतपथमें कहा है कि—

विद्वांसो हि देवाः ॥ (शत० ३।७।३।१०)

" देव विद्वान् हैं। " ज्ञान प्राप्त करना देवत्वका लक्षण है।

देवताओंके विषयमें विचार करनेके समय, मनुष्योंके अन्तर्गत देवताएं हैं तथा पृथ्वी, आप, तेज, सूर्य, चंद्र, वायु आदि बाह्य सृष्टिमें जो देव हैं उनको सभी एक मतसे मानते हैं, इसलिये इनके विषयमें [illegible] लिखनेकी आवश्यकता नहीं।

मनुष्य समाजके अंदर देवतागण ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि हैं और बाह्य सृष्टिमें अग्नि, वायु, विद्युत, सूर्य आदि हैं, इतनी बात सिद्ध हो गई; अब देखना है कि व्यक्तिके शरीरमें कौनसे देव हैं। इस विषयमें श्री सायणाचार्य लिखते हैं–

(१) देवाः गमनवन्तो व्यवहरन्तो वा इंद्रियसंज्ञकाः।

(ऋ० सायणभाष्य १।१६४।३९)

(२) देवाः द्योतनाद्देवाश्चक्षुरादीनि इंद्रियाणि ॥

ईश उ० शांकरभाष्य ॥ मं० ४ ॥ (यजु० अ० ४०।४)

" देव अर्थात् सब व्यवहारके साधनभूत और प्रकाशक इंद्रिय " हैं ऐसा उक्त माननीय आचार्योंने कहा है। ये ही व्यक्तिके अंदर देव हैं। व्यक्ति, समाज और जगत्में क्रमशः इंद्रिय, ज्ञानी मनुष्य और अग्न्यादि पदार्थ देव हैं यह बात यहां सिद्ध हो गई। अब इनके लक्षण देखिये, कैसे इनमें सार्थ होते—

(१) व्यक्तिमें देव— इंद्रिय- इंद्रियोंकी खेलकी ओर प्रवृत्ति है, इंद्रियोंसे ही विजय प्राप्त किया जाता है, शरीरके सब व्यवहार इंद्रियों द्वारा ही होते हैं, इंद्रियां तेजस्वरूप हैं, इसकी शक्तियां प्रशंसनीय हैं, आनंद और संतोष सुख इनके कारण प्राप्त होता है। इंद्रियोंके लिये विश्राम और निद्राकी आवश्यकता है, इंद्रियोंद्वारा प्रीति की जाती है, सब हलचल इंद्रियोंके द्वारा हो रही है, तथा परोपकार भी इंद्रियोंकी सहायतासे ही किया जाता है।

(२) राष्ट्रमें देव— ज्ञानी, शूर, व्यापारी और कारीगर-उक्त पुरुष राष्ट्रके इंद्रिय हैं। इनकी मर्दानी खेलोंमें प्रवृत्ति होती है, इनके द्वारा राष्ट्रका विजय होता है, राष्ट्रके सब व्यवहार इन्हींके कारण होते हैं, ये तेजस्वी होते हैं, इनकी शक्तियां प्रशंसनीय होती हैं, आनंद और संतोष ये [illegible]में स्थापित करते हैं, ये गाढ निद्राका अनुभव ले सकते हैं, ये [illegible]का व्यवहार करते हैं, सब राष्ट्रीय हलचल इन्हींके कारण [illegible] है, ये परोपकार करते रहते हैं।

(३) जगत्में देव— अग्नि, वायु, विद्युत्, सूर्य, आदि·· ये सब जगत्के पदार्थ जगत्का संपूर्ण व्यवहार होनेमें सहायता देते हैं। इन्हींके कारण मनुष्यादि प्राणी उक्त व्यवहार कर सकते हैं।

इस प्रकार तीनों स्थानोंमें देवोंकी स्थिति है। अब एक उदाहरण लेकर उक्त अर्थ संगत होता है या नहीं, इसका विचार करेंगे। उदाहरणके लिये निम्न मंत्र देखिये-

नैनद् देवा आप्नुवन् ॥ (यजु० ४०।४)

" (देवाः) देव (एनत्) इस ब्रह्मको (न आप्नुवन्) प्राप्त नहीं कर सकते। " यह शब्दार्थ है। उक्त तीनों दृष्टियोंसे इसका अर्थ निम्न प्रकार होता है — (१) इंद्रियोंको ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं हो सकती, (२) विद्वान् शूर, व्यापारी और कारीगरोंको ब्रह्मप्राप्ति नहीं होती, (३) अग्नि, वायु, रविको ब्रह्मप्राप्ति नहीं होती। उक्त यजुर्वेदके मंत्रका यह सीधा अर्थ है। यहां कई पूछेंगे कि इस अर्थके लिये कोई प्रमाण है या नहीं? है। इस अर्थके लिये उपनिषदोंमें ही प्रमाण हैं, देखिये—

(१) केन उपनिषद्के पहिले दो खंडोंमें कहा है कि इंद्रियोंके द्वारा ब्रह्मका ज्ञान नहीं होता और (३) तीसरे खंडमें कहा है कि अग्नि और वायु भी उसको नहीं जान सके। अर्थात् उक्त यजुर्वेदके मंत्रके एक टुकडे की व्याख्या संपूर्ण केनोपनिषद् है। ' नैनद्देवा आप्नुवन् ' इस मंत्रके इतने हिस्सेका भाष्य ही केनोपनिषद् है।

(२) अब शेष रहा विद्वान्के विषयका अर्थ! इसकी व्याख्या छांदोग्य उपनिषद् प्र० ७।१ में देखिए। नारद मुनि भगवान् सनत्कुमारके पास जाकर कहते हैं कि " मैंने चारों वेद, इतिहास पुराण आदि सब पढे हैं, परंतु मुझे ब्रह्मज्ञान नहीं हुआ। " शब्दोंका ज्ञान हुआ परंतु आत्माका अनुभव नहीं हुआ। यही यहां तात्पर्य है। बडे बडे पंडित वेदादि शास्त्रोंपर उत्तम शास्त्रार्थ कर सकते हैं, ब्रह्मके गुण भी कहेंगे परंतु सब जबानी जमाखर्च उनका होता है। संपूर्ण व्याख्यानके बीचमें सब खोखलापन रहता है इसलिये कि उनको स्वयं अनुभव नहीं होता है। मिश्रीके मीठेपनका वर्णन पढना और है और मिश्रीका स्वाद लेना और है। मिश्रीके वर्णनके समान वेदमें

परमात्माका वर्णन है । परंतु अनुभव योगके अनुष्ठानसे ही प्राप्त होता है । जबतक योगसाधन न किया जाय तबतक जबानी जमाखर्चसे कोई लाभ नहीं होता । इसीलिये वेदने स्वयं कहा है कि—

यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति ॥ (ऋग्वेद १।१६४।३९)

" जो उस ब्रह्मको नहीं जानता, वह मंत्रोंसे क्या करेगा ? " अर्थात् परमात्माका अनुभव केवल मंत्रोंके ज्ञानसे नहीं होगा । मंत्रोंका ज्ञान यह एक साधन अवश्य है, परंतु केवल मंत्रार्थ समझना ही पर्याप्त नहीं है, यह आशय यहां है ।

अस्तु । इस प्रकार ' देव ' शब्दके तीनों अर्थ लेकर स्वयं उपनिषद्-कारोंने वेदकी व्याख्या की है । इसलिये उक्त अर्थ ठीक हैं । अस्तु अब इसका फलित अर्थ देखिये—

वैदिक शब्द	आध्यात्मिक भाव व्यक्तिमें देव	आधिभौतिक भाव राष्ट्रमें देव	आधिदैविक भाव जगत्में देव
१ देव	इंद्रिय (पंचज्ञानेंद्रिय, पंचकर्मेंद्रिय)	विद्वान् (ज्ञानी शूर, व्यापारी, कारीगर)	अग्नि, विद्युत्, वायु, मरुत् आदि
२ देवलोक	इंद्रिय स्थान	विद्वानोंका स्थान	अग्नि आदिका स्थान
देवसभा	इंद्रियगण, इंद्रियग्राम, मस्तिष्क ।	विद्वत्परिषद्, आमंत्रण, परिषद्, सभा ।	आकाशमें देवताओंका समूह ।
३ दिव्य	इंद्रियसंबंधी	विद्वानोंके संबंधी	अग्नि आदि विषयमें
४ स्वर्ग सु-वर्ग (उत्तम वर्ग)	उत्तम इंद्रियोंका वर्ग	उत्तम विद्वानोंका संघ	अग्नि आदि देवताओंका उत्तम वर्ग

इस प्रकार उक्त अर्थोंका फलितार्थ है। इन भावार्थोंको ध्यानमें रखकर वेदका अर्थ देखना चाहिए। देवोंकी सभा जैसी शरीरमें है वैसी ही राष्ट्रमें और जगत्में होती है। किसी स्थानपर देवोंके राज्यमें राक्षसोंका राज्य न हो, इस बातकी खबरदारी लेनी चाहिये। विशेषतः अपने शरीरके इंद्रिय उत्तम संस्कारोंसे सुसंस्कृत बनाने और सच्चे देव बनाने चाहिये।

जो देवताएं वेदमें आ गई हैं उनके तीनों स्थानोंमें भाव देखकर वेदका गुह्य आशय देखना चाहिये, तभी वेदका सत्य ज्ञान प्रकाशित हो सकता है और मानवजातिके कल्याणका सत्य मार्ग ज्ञात हो सकता है। आशा है कि विद्वान् पाठक इस दृष्टिसे विचार करेंगे।



ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥

(यजु. ४०।१)

अर्थ— (यत् किंच) जो कुच्छ (जगत्यां जगत्) इस जगतमें हिलनेवाला है (इदं सर्वं) वह सब (ईशा वास्यं) ईश्वरके द्वारा आच्छादित होने योग्य है। (तेन) इसलिये (त्यक्तेन भुञ्जीथाः) त्यागसे भोग कर, (मा गृधः) मत ललचा। (कस्य स्वित् धनं) भला किसका धन है?

पाठ ८

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।
श्रद्धां हृदय्य१ या कूत्या श्रद्धया विन्दते वसु ॥

(ऋ. १०।१५१।४)

(देवाः यजमानाः) दिव्य यजमान (श्रद्धां) श्रद्धाको प्राप्त होते हैं। (वायु-गोपाः) प्राणसे सुरक्षित होनेवाले प्राणायाम करनेवाले योगी श्रद्धासे ही उपासना करते हैं। (हृदय्यया आकूत्या) हृदयके उच्च भावसे (श्रद्धां) श्रद्धा प्राप्त होती है और श्रद्धासे ही (वसु विन्दते) धन प्राप्त होता है।

सब लोक श्रद्धा होनेसे ही सत्कर्म कर सकते हैं। योगी लोग प्राणायामसे आत्म-शुद्धि करके श्रद्धासे ही उपासना करते हैं। श्रद्धा यौं ही नहीं प्राप्त होती, परंतु वह हृदयकी एक विशेष भावनासे उत्पन्न होती है। श्रद्धासे ही सब पुरुषार्थ सफल और सुफल होते हैं। इसलिये अपनी वैयक्तिक तथा जातीय उन्नतिके लिये हरएकको अपने अंदर श्रद्धा बढानी चाहिये।

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यं दिनं परि ।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ॥

(ऋ० १०।१५१।५)

प्रातःकालमें श्रद्धासे कर्म करते हैं और उसी प्रकार मध्य-दिनमें और सूर्यके (निम्रुचि) अस्त होनेके समयमें भी श्रद्धासे भक्ति करते हैं। हे हे श्रद्धे ! हम सबको श्रद्धासे युक्त करो ॥

श्रद्धा, विश्वास, मनका निश्चय, दिलका अटल भरोसा, ही मनुष्यसे महान् महान् पुरुषार्थ कराता है। श्रद्धाके विना मनुष्य कुछ भी नहीं कर सकता। जैसी धार्मिक कृत्योंमें श्रद्धा होनेसे बडे बडे धर्मकृत्य मनुष्य कर सकता है, उसी प्रकार सब अन्य व्यवहार भी श्रद्धा होनेसे ही किये जाते

हैं। इस प्रकार सर्वत्र श्रद्धाका अधिकार चलता है। इसलिये श्रद्धा एक बडी भारी शक्ति है। यह श्रद्धा मनुष्योंमें उत्पन्न होवे और उसके द्वारा मनुष्य सदा सत्कार्य करते रहें।

मनुष्यमें कितनी भी शक्ति, बुद्धि तथा अन्य प्रकारकी समर्थता क्यों न हो परंतु यदि श्रद्धा उसमें न होगी तो उसके अन्य सद्गुण उत्तम प्रकारसे अपना अपना कार्य करनेमें समर्थ नहीं होते। अर्थात् अश्रद्धाके कारण अन्य सद्गुणोंका बल कम होता है और श्रद्धाके कारण अपना बल बढ जाता है। इसलिये न केवल धार्मिक भूमिकामें परंतु हरएक अन्य भूमिकामें श्रद्धासे ही कृतकार्यता सिद्ध होती है।

इसलिये हरएकको उचित है, कि वह अपने अंतःकरणमें श्रद्धाभक्तिका विकास होने दें। तथा जो जो सत्कर्म करना है, उसको श्रद्धाके साथ उत्तम प्रकार करनेका अभ्यास करें। जिनके अंतःकरणमें श्रद्धा नहीं होती, वे प्रयत्नसे अपनेमें श्रद्धाका उदय कर सकते हैं॥

मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम्॥
प्रपीतां ब्रह्मचारिभिर्देवानामवसे हुवे॥ २॥

(अ० ६।१०८)

(अहं) मैं (प्रथमां) पहिली (ब्रह्मण्वतीं) ज्ञानयुक्त (ब्रह्मजूतां) ज्ञानियों द्वारा सेवित (ऋषि-स्तुतां) ऋषियोंसे स्तुति की गई (ब्रह्म-चारिभिः प्रपीतां) ब्रह्मचारियोंसे पान की गई (मेधां) धारणायुक्त बुद्धि-को (देवानां अवसे) देवों-इंद्रियों और ज्ञानियों--की रक्षाके लिये (हुवे) प्राप्त करता हूं।

जिस प्रकारकी धारणावती बुद्धिकी प्रशंसा सब विद्वान् कर रहे हैं, उस की धारणाकी उन्नति अपने अंदर करनी चाहिये। धारणावती बुद्धिको मेधा कहते हैं। जिससे मनके अंदर ज्ञानादिकी धारणा होती है, उस शक्ति का नाम मेधा है। यह मेधाशक्ति जितनी प्रबल होगी उतनी बुद्धिकी

विशालता मनुष्य दिखा सकता है । इसलिये हरएक मनुष्यको उचित है, कि वह अपने अंदर इस धारणावती बुद्धिको बढावे ।

यां मेधामृभवो विदुर्यां मेधामसुरा विदुः ।
ऋषयो भद्रां मेधां यां विदुस्तां मय्यावेशयामसि ॥ ३ ॥
(अ० ६। १०८)

(यां मेधां) जिस मेधाको (ऋभवः विदुः) ज्ञानी जानते हैं, जिस (मेधां) बुद्धिको (असुराः विदुः) असुर जानते हैं, (यां भद्रां मेधां) जिस कल्याणमयी बुद्धिको ऋषि जानते हैं, (तां मयि आवेशयामसि) उस श्रेष्ठ बुद्धिको मेरे अंदर स्थापित करता हूं ।

सब ज्ञानी लोग जिस धारणावती बुद्धिका अनुभव करते हैं, वह बुद्धि हरएकको प्राप्त करनी चाहिये ।

यामृषयो भूतकृतो मेधां मेधाविनो विदुः ।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कृणु ॥ ४ ॥ (अ० ६।१०८)

हे अग्ने ! (यां मेधां) जिस मेधा बुद्धिको (मेधाविनः भूतकृतः) ज्ञानी और पुरुषार्थी ऋषि (विदुः) अनुभव करते रहे, उस मेधा बुद्धिसे (मेधाविनं) बुद्धिमान् (मां कृणु) मुझे कर ।

ज्ञानी ऋषियोंकी बुद्धि जैसी सूक्ष्म विचार करनेमें समर्थ थी, उस प्रकार अपनी बुद्धि करनेका यत्न करना चाहिये ।

मेधां सायं मेधां प्रातर्मेधां मध्यं दिनं परि ।
मेधां सूर्यस्य रश्मिभिर्वचसा वेशयामहे ॥ (अथर्व० ६।१०८।५)

(सायं) सायंकाल, (प्रातः) प्रातःकाल और (मध्यं दिनं) दिनके मध्यमें (सूर्यस्य रश्मिभिः) सूर्यके किरणोंके साथ तथा (वचसा) अपनी वाक् शक्तिके साथ (मेधां) मेधा नामक धारणावती बुद्धिको धारण करते हैं ।

मेधा बुद्धिकी वृद्धिके लिये हरएकको प्रतिदिन सुबे शाम प्रयत्न करना चाहिये । दक्षतासे प्रयत्न करने पर ही इसकी वृद्धि होती है ।

पाठ ९

इयं या परमेष्ठिनी वाग्देवी ब्रह्मसंशिता।
यथैव ससृजे घोरं तथैव शांतिरस्तु नः॥ (अ० १९।९।३)

(या इयं) जो यह (ब्रह्म-संशिता) ज्ञानसे तीक्ष्ण बनी हुई (परमेष्ठिनी वाग्देवी) परमात्मासें संबंध रखनेवाली वाग्देवी, (यया) जिससे (घोरं ससृजे) भयंकर प्रसंग उत्पन्न होता है, (तया एव) उसीसे (नः शांतिः अस्तु) हमें शांति प्राप्त होवे।

वाणी आत्माकी प्रेरणासे उत्पन्न होती है, इस वाणीके दुरुपयोगसे अनंत झगडे खडे होते हैं, और सदुपयोगसे अनंत उपकार भी होते हैं। इसलिए वाणीके सदुपयोग द्वारा हमें उत्तम शांति प्राप्त हो, यह प्रार्थना इस मंत्रमें है, जो सूचित करती है कि, हरएक मनुष्य वाणीका सदुपयोग करके शांति स्थापन करनेमें अपनेसे जो हो सकता है, करें।

इदं यत् परमेष्ठिनं मनो वा ब्रह्मसंशितम्।
येनैव ससृजे घोरं तेनैव शांतिरस्तु नः॥

(अ० १९।९।४)

(इदं) जो (ब्रह्मसंशितं) ज्ञानसे तीक्ष्ण बना हुआ (परमेष्ठिनं) परमात्मासे संबंध रखनेवाला (मनः) मन है, जिससे (घोरं) भयंकर परिणाम भी होता है, उसीसे हमें शांति प्राप्त हो !

हमारे अंदर मन है, जो आत्माकी शक्तिसे यहां कार्य कर रहा है। इस मनके दुरुपयोगसे बडे भयानक दुष्परिणाम होते हैं, परंतु यदि वह मन अपने वशमें रहा, तो अत्यंत उन्नति प्राप्त होती है। इसालिये मनसे कदापि बुरे विचार करने नहीं चाहिये, परंतु अच्छे पोषक विचार करके श्रेष्ठ बनने का ही यत्न हरएकको करना चाहिये।

पाठ १०

इमानी यानि पंचेंद्रियाणि मनः षष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि। यैरेव ससृजे घोरं तैरेव शांतिरस्तु नः॥

(अ० १९।९।५)

ये (पंच इंद्रियाणि) पांच ज्ञानेंद्रियां (मनः षष्ठानि) जिसमें मन छठवां है, (ब्रह्मसंशितानि) जो ज्ञानसे सुतीक्ष्ण बनकर मेरे (हृदि) हृदयमें रहते हैं, जिनसे (घोरं) भयंकर परिणाम भी होता है । उनसे ही हमें शांति प्राप्त होवे ।

मन और इंद्रियां यदि बिगड बैठीं, तो मनुष्यको कितनी आपत्तिमें डालती हैं, यह बात प्रसिद्ध है, परंतु वशमें रहीं, तो उनसे ही बहुत उन्नति होती है । इसलिये उनको वशमें रखकर उनके उत्तम उपयोग द्वारा ही शांति स्थापन करनी चाहिये ।

मा मां प्राणो हासीन्मो अपानोऽवहाय परा गात् ॥

(अ० १६।४।३)

प्राण मुझे (मा हासीत्) न छोडे और अपान भी मुझे (अवहाय) छोडकर न (परा गात्) दूर न जावे ।

प्राण और अपान मेरे अंदर उत्तम बलवान् बनकर रहें ।

अजैष्माद्यासनामाद्या भूमानागसो वयम्।

(अ० १६।६।१)

(अद्य अजैष्म) आज हमने जीत लिया है, आज हमने (असनाम) धन प्राप्त किया है । (वयं) हम (अनागसः) पापरहित (अभूम) हो गये हैं ।

(१) विजय प्राप्त करना, (२) धनादि भोग प्राप्त करना और (३) निष्पाप बनना चाहिये।

मन आदि संपूर्ण शक्तियोंकी पूर्व उपदेशानुसार उन्नति करनेसे ही अपना विजय होगा। इसलिये अपनी सर्वांगीण उन्नति करनेके लिये हरएकको परम पुरुषार्थ करना चाहिये। इस विषयमें निम्न लिखित सूक्त देखिये—

वाङ्म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः ॥
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम् ॥ १ ॥
ऊर्वोरोजो जंघयोर्जवः पादयोः ।
प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्मानिभृष्टः ॥ २ ॥
तनूस्तन्वा मे सहे दतः सर्वमायुरशीय ॥
स्योनं मे सीद पुरुः पृणस्व पवमानः स्वर्गे ॥ ३ ॥
प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ॥
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ १ ॥
उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय ॥
आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय ॥ १ ॥
(अथर्व० कां० १९ सू० ६०, ६१, ६२, ६३)

मेरे (आसन्) मुखमें पूर्ण आयुकी समाप्ति तक उत्तम वक्तृत्व शक्ति रहे, नासिकामें प्राणशक्ति संचार करती रहे, आंखोंमें दृष्टि उत्तम प्रकारसे रहे, कानोंमें श्रवणशक्ति रहे, (अ-पलिताः केशाः) मेरे बाल सफेद न हों, (अ-शोणाः दन्ताः) मेरे दांत मलीन न हों, मेरे बाहुओंमें बहुत बल रहे, मेरी ऊरुओंमें (ओज) शक्ति रहे, जांघोंमें (जवः) वेग रहे, पावोंके अंदर (प्रतिष्ठा) स्थिरता और दृढता रहे, मेरे सब अवयव (अरिष्टानि) हृष्टपुष्ट हों, मेरा आत्मा सदा उत्साहपूर्ण रहे, (तनूः) मेरे शरीर के सब अवयव उत्तम अवस्थामें रहें। (दतः) दबानेवाले शत्रुको (सहे) सहन करनेकी शक्ति मेरे अंदर रहे। मैं (सर्वं आयुः) पूर्ण दीर्घ आयु प्राप्त करूंगा। पूर्ण आयुकी समाप्ति तक मेरे सब अवयव हृष्टपुष्ट रहें, मुझे (स्योनं) सुख प्राप्त हो, (पुरु) बहुत पूर्णत्व प्राप्त हो, मैं शुद्ध होकर (स्वर्गे) स्वर्गमें-अर्थात्- उत्तम लोकमें प्रसन्नतासे रहूंगा।

(प्रियं मुझे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंमें प्रिय करो। सब (पश्यतः) देखनेवालोंमें मैं प्रिय हो जाऊंगा, अर्थात् मैं लोकमान्य बनूंगा।

हे (ब्रह्मणस्पते) ज्ञानके स्वामिन्! (उत्तिष्ठ) उठ। और (यज्ञेन) सत्कर्मके द्वारा (देवान् बोधय) विद्वानोंमें जागृति उत्पन्न कर। तथा आयु, जीवन, संतति, पशुपालन, कीर्ति तथा सत्कर्म करनेवालोंका बल बढाओ।

इन सूक्तोंके मंत्रोंमें मनुष्यके अभ्युदयका स्वरूप उत्तम रीतिसे वर्णन किया है— (१) प्रथमतः अपनी शारीरिक और मानासिक शक्तियोंकी उन्नति करनी चाहिये। जिसका शरीर कमजोर है, मन निर्बल है और बुद्धि क्षीण है, वह परोपकारके पुरुषार्थ भी उत्तमतासे कर नहीं सकता। इसलिये वैयक्तिक उन्नतिका प्रयत्न सबके प्रथम होना चाहिये। (२) तत्पश्चात् दीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेके लिये मानसिक और आत्मिक समता प्राप्त करनी चाहिये। इस समतासे ही मनुष्य जनताके उपयोगी महत्कार्य करने योग्य बनता है। समताका भाव मनमें स्थिर न रहा, तो वह मनुष्य सार्वजनिक कार्य करनेमें असमर्थ हो जाता है। मानसिक समता और स्थिरतासे शारीरिक आरोग्य और दीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेके लिये मानसिक और आत्मिक समता प्राप्त करनी चाहिये। इस समतासे ही मनुष्य जनताके उपयोगी महत्कार्य करने योग्य बनता है। समताका भाव मनमें स्थिर न रहा तो वह मनुष्य सार्वजनिक कार्य करनेमें असमर्थ हो जाता है। मानसिक समता और स्थिरतासे शारीरिक आरोग्य और दीर्घ आयुष्य भी प्राप्त होता है। अल्पायु मनुष्य तथा अस्थिर चित्तका मनुष्य जनताके हितके काम कैसे कर सकता है? चालीस पचास वर्षतक मनुष्य अनुभव प्राप्त करता है और पश्चात् की आयुमें वह अनुभव लोगोंको देता है। जो मनुष्य अल्पायु होता है, वह अनुभव प्राप्त करनेकी आयुमें ही मरता है, इसलिये उससे कोई विशेष कार्य जनताके लाभके लिये होना अशक्य है।

अतः पुरुषार्थी मनुष्यको उचित है, कि वह शारीरिक, मानासिक और आत्मिक उन्नतिके साथ अपनी दीर्घ आयु बनानेका यत्न करे। (३) इतनी योग्यताके पश्चात् वह जनताके हितके कार्य कर सकता है और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्रोंके उपयोगी महत्कार्य करके, उनकी प्रीति संपादन करता है। तात्पर्य सर्वजनहितकारी पुरुषार्थ करनेसे सब जनता उसपर प्रेम करती है, और वह लोकप्रिय बन जाता है। (४) इस समय उसका कार्य केवल जनताको संतुष्ट करना ही नहीं होता, प्रत्युत जनताको योग्य कर्तव्य बतानेके लिये वह उत्तम बोध करना होता है।

अस्तु। इस प्रकार मनुष्यकी क्रमसे उन्नति होती है। यह मानवी उदय-के स्वरूपका उपदेश इन सूक्तोंका विचार करनेसे पाठकोंको प्राप्त हो सकता है।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः।

(ऋ० १।८९।८)

कानोंसे (भद्रं) कल्याणमय उपदेश ही सुनें, (अक्षभिः) आंखोंसे कल्याणकारक दृश्य ही देखें। हे (यजत्राः देवाः) याजक देवता लोगों! स्थिर अंगोंसे युक्त (तनूभिः) शरीरोंसे (तुष्टुवांसः) ईश्वरकी प्रशंसा करते हुए (देवहितं आयुः) देवोंके हित करनेके लिये अपनी आयु (व्यशेम) समाप्त करें।

शरीरके संपूर्ण अवयवोंसे श्रेष्ठोंकी सेवा और उनका सत्कार करते हुए, तथा संपूर्ण श्रेष्ठ कर्तव्योंको पूर्ण करते हुए, हम पूर्ण आयु प्राप्त करें। इस मंत्रमें यद्यपि कान और आंखोंका ही उल्लेख है, तथापि सब अन्य अवयवों-के विषयमें इसी प्रकार निश्चय करना चाहिये। अर्थात् अपने हरएक अवयव से शुभ कर्म करानेकी प्रतिज्ञा इस समय करनी चाहिये और दक्षताके साथ व्यवहार करके उस प्रतिज्ञाकी पूर्णता करनी चाहिये। शरीरके हरएक अवयवसे इस प्रकार शुभ कर्म करनेकी दक्षता जो बतायेंगे, वेही उन्नत हो सकते हैं।

मनुष्य शरीरकी कृतकृत्यता उक्त प्रकार कर्म करनेसे ही हो सकती है। प्रत्येक अवयवको शुभकर्ममें प्रवृत्त करनेसे उन्नति और अशुभ कर्ममें प्रवृत्त करनेसे अवनति होती है, यह नियम ध्यानमें रखनेसे मनुष्यकी सदा उन्नति ही होती रहेगी।

सप्त स्वसॄररुषीर्वावशानो विद्वान्मध्व उज्जभारा दृशेकम्।
अंतर्येमे अंतरिक्षे पुराजा इच्छन्वव्रिमविदत्पूषणस्य॥

(ऋ० १०।५।५)

(वावशानः विद्वान्) इंद्रियोंको वशमें रखनेवाले ज्ञानीने (कं दृशे) आनंदके दर्शनके लिये (मध्वः) अमृतसे (अरुषीः) तेजस्वी (सप्त स्वसॄः) सात बहिनें- सप्त इंद्रियां (उत् जभार) ऊपर लाई हैं। और (पुराजाः) पहिले जन्मा हुआ वह जीवात्मा (अंतरिक्षे) अंतःकरणके (अन्तः) बीचमें (येमे) नियमन करता है। जो उन्नतिकी (इच्छन्) इच्छा करता है, वह (पूषणस्य वव्रिं) पोषकका आश्रय (अविदत्) प्राप्त करता है।

संयमी विद्वान् आनंद प्राप्तिके लिये आत्मशक्तिसे अपनी सातों इंद्रियोंको उन्नतिके मार्गपर चलाता है। जिसने पहिले भी अनेक वार जन्म लिये हैं, ऐसा यह जीवात्मा अपने अंतःकरणके द्वारा सबका नियमन करता है। ऐसा आत्मसंयमी जिस प्रकारकी उन्नति चाहता है उस प्रकारकी उन्नति ईश्वरकी सहायतासे उसको प्राप्त होती है। नाक, जिह्वा, आंख, कान; त्वचा, मन और बुद्धि ये सात आत्माकी बहिनें हैं। इनके संयमसे उन्नति और असंयम से अधोगति होती है।

पाठ ११

यद्राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं यमस्यामी सभासदः।
अविस्तस्मात्प्र मुंचति दत्तः शितिपात् स्वधा ॥ १ ॥

(अ० ३।२९)

(यमस्य) नियम पालन करनेवाले राजाके (अमी सभासदः राजानः) ये सभासद् राजे (इष्टा-पूर्तस्य षोडशं) अन्नादि भोगका सोलहवां भाग (वि भजन्ते) विभक्त करते हैं। यह सोलहवां भाग (दत्तः) दिया हुवा (अविः) रक्षक होता है और वह (शितिपात्) हानिसे (प्रमुञ्चति) मुक्त कर देता है और (स्वधा) अपना पोषण धारण करता है।

राजसभाके सभासद् ही सचमुच राजे हैं। ये प्रजासे लाभका धनधान्यादि उत्पन्नसे सोलहवां भाग राजाके लिये अलग करते हैं। यही कर लोग राजाको देते हैं। यह दिया हुआ कर ही प्रजाका संरक्षण करता है, अर्थात् वह कर लेकर राजा सब प्रजाकी रक्षा करता है और राष्ट्रमें धारणाशक्ति बढाता है। उत्पन्नका १६ वां हिस्सा ही कर रूपसे राजाको देना चाहिये।

सर्वान् कामान् पूरयत्याभवन्प्रभवन्भवन् ।
आकूतिप्रोऽविर्दत्तः शितिपान्नोप दस्यति ॥ २ ॥

(अ० ३।२९)

पूर्वोक्त कर (दत्तः) दिया हुआ (अविः) रक्षक बनकर (शितिपात्) हानिसे (न उपदस्यति) नाश नहीं करता। परंतु (आकूति-प्रः) संकल्पोंको पूर्ण करता हुआ सब कामनाओंको (आभवन्, प्रभवन्, भवन्) विजयी, प्रभावी और वृद्धियुक्त होकर (पूरयति) पूर्ण करता है।

राजाको सोलहवां भाग कररूपसे देनेपर वह प्रभावशाली बनकर सब प्रजाको नाशसे बचाता है।

ता हि श्रेष्ठवर्चसा राजाना दीर्घश्रुत्तमा ।
ता सत्पती ऋतावृध ऋतावाना जने जने ॥ (ऋ० ५।६५।२)

(तौ) वे (राजानौ) राजा लोग (श्रेष्ठवर्चसौ) उत्तम तेजस्वी, (दीर्घ श्रुत्तमौ) अत्यंत ज्ञानी, (सत्पती) उत्तम पालन करनेवाले, (ऋतावृधौ) सत्य और सरलताके साथ बढनेवाले (जने जने) प्रत्येक संघमें (ऋतावानौ) सत्यके रक्षक हैं।

राजा लोगोंको इन गुणोंसे युक्त होना चाहिये।

यदजः प्रथम संबभूव सह तत् स्वराज्यमियाय।
यस्मान्नान्यत् परमस्ति भूतम्॥ (अ० १०।७।३१)

(अजः) हलचल करनेवाला (प्रथमं) सबसे प्रथम (यत्) जब (सं बभूव) मिल जुलकर प्रकट होता है। (तत्) तब (सः ह) वही (स्वराज्यं) स्वराज्यको (इयाय) प्राप्त करता है, (यस्मात्) जिस स्वराज्यसे (अन्यत्) दूसरा कोई (परं) श्रेष्ठ (भूतं न अस्ति) हुआ नहीं है।

वेदका यह मंत्र स्वराज्यकी महिमा बता रहा है। इस मंत्रका हर-एक कथन विचार करने योग्य है। यहांका 'अज' शब्द हलचल करनेवाला, नेता, संचालक, चलानेवाला, आदि भाव बताता है। "अज्" धातुसे यह शब्द बनता है, इस 'अज' धातुका अर्थ जाना, चलना, हिलना, हलचल करना आदि है। अर्थात् जो अग्र भागमें जाता है, जो चलाता है, जो आगे बढनेके लिये हलचल करता है, जो अन्योंका नेता होकर उनको आगे बढाता है, वह 'अज' कहलाता है।

इस मंत्रमें कहे "स्वराज्य" का अधिक अर्थ निम्न लिखित मंत्रसे खुल सकता है—

आ यद् वामीयचक्षसा मित्र वयं सूरयः॥
व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये॥ (ऋ० ५।६६।६)

(मित्र) हे मित्रता रखनेवालों अर्थात् जिनके अन्दर विरोध नहीं ऐसे सज्जनों, (ईय--चक्षसौ) जिनकी दृष्टि विशाल हुई है ऐसे सज्जनों !

तुम सब तथा (वयं) हम सब (सूरयः) विद्वान् मिलकर (व्यचिष्ठे) विस्तृत तथा (बहुपाय्ये) अनेकोंकी सहायतासे जिसका पालन होता है, ऐसे (स्वराज्ये) स्वराज्यमें (आयतेमहि) स्वराज्य व्यवस्थाको ठीक चलानेका उत्तम प्रकारसे यत्न करेंगे।

स्वराज्यके लिये (१) मित्र दृष्टिवाले लोग, (२) विस्तृत दृष्टिके लोग और (३) ज्ञानी लोग, ये तीन प्रकारके लोग, योग्य होते हैं। अर्थात् (१) आपसमें झगडनेवाले (२) संकुचित दृष्टिवाले और (३) अज्ञानी लोग स्वराज्य चलानेमें समर्थ नहीं हो सकते।

इत्था हि सोम इन्मदे ब्रह्मा चकार वर्धनम् ॥
शविष्ठ वज्रिन्नोजसा पृथिव्या निःशसा अहिमर्चन्ननु
स्वराज्यम् ॥ (ऋ० १।८०।१)

हे (शविष्ठ वज्रिन्) बलवान शस्त्रधारी। (इत्था) इस प्रकार (मदे सोमे हि) आनंदकारक शांति वर्धक सोमके विषयमें ही (ब्रह्मा) ज्ञानी (इत्) निःसंदेह (वर्धनं चकार) संवर्धन करता है । तू (ओजसा) शक्तिके साथ (पृथिव्याः अहिं) भूमिके शत्रुको (निःशसा) दंड दो और (स्वराज्यं) स्वराज्यको (अनु अर्चन्) योग्य पूजा करनेवाला बन।

ज्ञानी जन सुविचारोंका संवर्धन करें, शस्त्रधर अथवा बलवान शत्रुओंका प्रतिकार करे और सब मिलकर स्वराज्यशासन का महत्व फैलावें, यह उक्त मंत्रका तात्पर्य है।

पाठ १२

अग्निं नरो दीधितिभिररण्योऽ-
र्हस्तच्युती जनयन्त प्रशस्तम्।
दूरेदृशं गृहपतिमथर्युम् १

[१] (नरः प्रशस्तं दूरेदृशं) नेता लोग प्रशंसा करने योग्य, दूरदर्शी (गृहपतिं अथर्युं) अपने घरोंका पालन करनेवाले प्रगतिशील (अग्निं) अग्निको (अरण्योः) दोनों अरणियोंमेंसे (हस्तच्युती) हाथोंकी कुशलतासे (दीधितिभिः जनयन्त) अपनी अंगुलियोंके द्वारा निर्माण करते हैं।

मानव धर्म— नेता लोग प्रशंसा योग्य, दूरदर्शी, अपने घरोंकी सुरक्षा करनेमें समर्थ, प्रगतिशील अग्रणिको प्रकाशित करते हैं। उसके निज तेजसे ही वह प्रकाशित होता है, उसको अपने प्रयत्नसे आगे बढावें।

मनुष्य (नरः) नेतृत्व करे, लोगोंको प्रशस्त मार्गसे चलावे, (दूरे दृशं) दूरदर्शी हो, दूरसे भी जिसका नाम सुनाई देता है, अथवा दूरसे भी जिसको दीखता है, भविष्यमें होनेवाली बातें जो स्वयं पहिले ही जानता है ऐसा दूरदर्शी हो, (गृहपतिं) अपने घर, अपने प्रदेश, अपने राष्ट्रका संरक्षण करनेमें समर्थ हो, संरक्षणकी शक्ति अपनेमें रखे और बढावे, (अथर्युं) प्रगतिशील हो, पर वह शक्ति उसके अंदर गुप्त रहे, न्यून न होती रहे, ऐसा (अग्निं) अग्रणी हो। (अग्निः अग्रं नयति) जो अन्ततक पहुंचाता है उसको अग्रणी कहते हैं। जो बीचमें ही छोडकर चला न जावे, सहारा देकर अन्ततक सब कार्यका संचालन करे। अग्नि जैसा अपने प्रकाशसे दूसरोंको मार्ग दर्शाता है, उत्साह ठंडा पडने नहीं देता और सदा प्रगतिशील रहता है वैसा नेता, जनताको मार्ग बतावे, सिद्धितक

आगे ले जावे, उत्साह बढाता रहे। ऐसे अग्रणीको नेता लोग उसके तेजसे प्रकाशित करें, यह नेता है ऐसा प्रसिद्ध करें। अपने प्रयत्नोंसे उसको बढावें और ऐसे पुरुषकी ही (प्रशस्तं) प्रशंसा करते रहें।

तमग्निमस्ते वसवो न्यृण्वन्ऽऽ-
त्सुप्रतिचक्षमवसे कुतश्चित ।
दक्षाय्यो यो दम आस नित्यः ॥ २ ॥

२ (यः दक्षाय्यः) जो दक्ष रहनेवाला अथवा बलवान् (नित्यः दमे आस) सदा अपने स्थानमें रहता था, (तं सुप्रतिचक्षं अग्निं) उस उत्तम दर्शनीय अग्निको (कुतः चित) सब ओरसे (अवसे) सबकी सुरक्षा करनेके लिये (वसवः) निवास कर्ताओंने (अस्ते नि ऋण्वन्) अपने घरमें रहनेके स्थानमें लाकर रख दिया।

मानव धर्म-- बलवान पुरुष सदा अपने घरमें रहे और घरकी सुरक्षा दक्षतासे करता रहे। ऐसे वीर पुरुषको सब ओरसे अपनी सुरक्षा करनेके लिये आदरसे लावें और महत्वके स्थानपर रखें अर्थात् निवास करनेवाले नागरिक ऐसे पुरुषको सुरक्षाके कार्यमें नियुक्त करें।

जो (दक्षाय्यः) बलके कारण सत्कार करने योग्य है, जो (नित्यः दमे आस) जो सदा अपने घरमें रहकर घरकी सुरक्षा करता था, ऐसे दर्शनीय वीर अग्रणीको (वसवः) निवास करनेवाले, जनताका निवास सुरक्षासे करनेवाले नेता लोग (कुतः चित् अवसे) किसी स्थानसे भय न हो और सब ओरसे सुरक्षा हो, इसलिये (अस्ते नि ऋण्वन्) अपने घरमें, स्थानमें, प्रदेशमें लायें और महत्वके स्थानपर रखें। और ऐसे वीरसे प्रदेशको सुरक्षित करें। जिससे सब लोग सुख शान्तिसे निवास कर सकें।

श्रीमद्भगवद्गीता

टीका लेखक– पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

इस ‘ पुरुषार्थबोधिनी ’ भाषाटीकामें यह बात दर्शायी गयी है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रंथोंकेही सिद्धान्त गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस ‘पुरुषार्थ-बोधिनी’ टीकाका मुख्य उद्देश्य है, अथवा यही इसकी विशेषता है।

गीता–के १८ अध्याय ३ भागोंमें विभाजित किये हैं और एकही जिल्दमें बांधे हैं। इसका मू. १०) रु. और डाकव्यय १॥) रु. है। लेकिन मनीआर्डरसे ११॥) रु. भेजनेवालोंको हमारे अपने व्ययसे भेज देंगे। प्रत्येक अध्यायका मू० ॥।) और डा० व्यय ।·) है।

श्रीमद्भगवद्गीता-समन्वय।

‘वैदिक धर्म’ के आकारके १३६ पृष्ठ, चिकना कागज, सजिल्दका मू० २) रु०, डा० व्य० ।=) डा०व्यय सहित मूल्य भेज दीजिये।

भगवद्गीता-श्लोकार्धसूची।

इसमें श्रीगीताके श्लोकार्धोंकी अकारादिक्रमसे आद्याक्षरसूची है और उसी क्रमसे अन्त्याक्षरसूची भी है। मूल्य केवल ·॥·) डा. व्य. ·।=)

भगवद्गीता लेखमाला।

‘ गीता ’ मासिकके प्रकाशित गीताविषयक लेखोंका यह संग्रह है। इसके १,२,६,७ भाग तैयार हैं, जिनका मू. ५)रु. और डा. व्यय १॥) है।

मंत्री–स्वाध्याय–मण्डल, पारडी (जि० सूरत)